वर्ष 45 अंक 11, मार्च 2023

मूल्य 20 रुपये

सामयिक वार्ता



भारतीय समाज परिवर्तन के संबंध में लोहिया के विचार

समाजवादी जन परिषद का पारित सामाजिक प्रस्ताव

क्या अदाणी का गुब्बारा फूट चुका?

कविता



राजेंद्र राजन

सच बोलो लेकिन

खुद की खैरियत चाहते हुए
सच बोलना चाहते हो तो संभल कर बोलो
दो टूक नहीं
किसी का नाम लेकर नहीं
सुराग देकर नहीं
शिनाख्त करके नहीं
परदा हटा करके नहीं
थोड़ा ढँक कर बोलो
या इतना घुमा-फिरा कर बोलो
कि पता न चले सच क्या है

सच बोलो लेकिन जोर से नही
इतना आहिस्ता बोलो
कि किसी को सुनाई न दे
अच्छा होगा कि अकेले में
सिर्फ अपने आप से बोलो

सच बोलो लेकिन
कोई निरापद विषय छेड़ो
फूल-पत्ती मौसम सुबह की सैर
खान-पान की रुचियों या पोषाक को लेकर अपनी पसंद
या ऐसी ही किसी और चीज की बात करो
जो देखा नहीं जा रहा है उसके बारे में मत बोलो

सच बोलो लेकिन
किसी गुजरे हुए जमाने के बारे में बोलो
मौजूदा वक्त के बारे में नहीं
जैसा चल रहा है उसके बारे में नहीं
वरना रंग में भंग पड़ जाएगा
और खलल डालने वाले को
वे बख्शेंगे नहीं
सच बोलो लेकिन कबीर की तरह नहीं
गांधी की तरह नहीं
सुकरात की तरह नहीं
उस बच्चे की तरह नहीं
जो बोल पड़ा था राजा तो नंगा है

सच बोलो लेकिन ख्याल रहे
वह कड़वा न हो
मीठा हो
आम की तरह
बोलो तो लगे कि तुम आम का स्वाद
या आम खाने की विधियां बता रहे हो

सच बोलो लेकिन
परिणाम की परवाह किए बिना नहीं
सच बोलो लेकिन ध्यान रहे
उन लोगों पर कोई आंच न आए
जिनके पास कानून की ताकत है
जिनके पास पैसे की ताकत है
जिनके पास धर्म की सत्ता है
जिनके पास न्याय की सत्ता है
जिनके पास प्रचार की ताकत है
जिनके पास भीड़ की ताकत है

सच बोलो लेकिन इन्हें चुभनेवाला न हो
वरना ये किसी भी हद तक जाकर
तुम्हारा मुंह बद कर देंगे।

सामयिक वार्ता

मार्च 2023 वर्ष 45 अंक 11

संस्थापक संपादक : किशन पटनायक

संपादक : **अफलातून**

संपादक सहयोग
प्रो. बलबीर जैन, अरविंद मोहन, हरिमोहन, राजेंद्र राजन, प्रियदर्शन, अरुण त्रिपाठी, प्रो. महेश विक्रम, लोलार्क द्विवेदी, संजय गौतम, चंचल मुखर्जी, कमल बनर्जी, संजय भारती

परामर्श मंडल
सच्चिदानंद सिन्हा, प्रो. कश्मीर उप्पल, स्मिता
रूप सज्जा : सुशील कांति

कार्यालय : 20 ए समसपुर जागीर, पांडव नगर
दिल्ली - 110091
ईमेल : varta3@gmail.com
sjp.delhistate@gmail.com

सदस्यता शुल्क :

एक प्रति	:	20 रुपए
वार्षिक शुल्क	:	200 रुपए
संस्थागत वार्षिक शुल्क	:	300 रुपए
छह साला शुल्क	:	1000 रुपए
आजीवन शुल्क	:	3000 रुपए

खाता नाम : सामयिक वार्ता या Samyik Varta
बैंक ऑफ बड़ौदा (Bank of Baroda)
शाखा : सोनारपुरा, वाराणसी (उ. प्र.)
Sonarpura, Varanasi (U.P.)
आईएफएससी कोड
खाता संख्या : 40170100005458
IFSC : BARB0SONARP
(यहां दूसरा B के बाद जीरो है, ओ नहीं है, एस के बाद O (ओ) है
MICR CODE : 221012030
(इस खाते में पैसे जमा करने तथा ग्राहक के पते की सूचना ईमेल अथवा मोबाइल 8765811730 / 8004085923 पर दें।)

इस अंक में

संपादकीय

संसद में लोकतंत्र : कितना सच, कितना दिखावा

संसद में क्या हो रहा है? वहां की कार्यवाही को देख कर क्या लोकतंत्रीय ढांचा के बने रहने की उम्मीद की जा सकती है?

संसदीय राजनीति में रुचि रखने वाले लोग मानते हैं कि संसदीय कामकाज पर काफी हद तक लोकतंत्र ढांचे का मजबूत या कमजोर होना निर्भर है। संसद को सुचारू रूप निर्धारित अवधि तक चलाने की जिम्मेदारी सत्ता पक्ष व सरकार की होती है, विपक्ष की नहीं। संसदीय कार्यवाही के माध्यम से सरकार को बजट से लेकर तमाम कामकाज और विभिन्न फैसलों की मंजूरी लेनी पड़ती है। विपक्ष मुख्य तौर पर समस्याओं, सरकार की कमियों-खामियों को सामने रखता है, किसी फैसले का विरोध या असहमति जताता है। सरकार का यह दायित्व है कि विपक्ष द्वारा उठाई गई समस्याओं पर गौर करें, उसके सवालों का संतोषजनक उत्तर दे, उसे विश्वास में लेकर कोई निर्णय ले। लोकतांत्रिक संसदीय राजनीति में माना जाता रहा है कि विपक्ष की गैरमौजूदगी में सरकार की मौजूदगी का कोई अर्थ नहीं होता। विपक्ष के मजबूत रहने पर ही सरकार लोकतंत्री रह सकती है। या विपक्ष के कमजोर रहने पर सरकार लोकतंत्री नहीं रह सकती। सदस्य संख्या बल के हिसाब से विपक्ष के अत्यंत कमजोर रहने और सत्ता दल के काफी मजबूत रहने की स्थिति में भी विपक्ष से सरकार का व्यवहार बराबरी का हो। लेकिन मौजूदा समय में क्या देखा जा रहा है?

सरकार विपक्ष के मुद्दों पर गौर नहीं करती, सवालों का जबाव नहीं देती। शोरगुल में विपक्ष की आवाज दबा दी जाती है। आसन से उसे जितना संरक्षण मिलना चाहिए, नहीं मिल पाता। यहां तक कि उसकी कही बात कार्यवाही से हट भी जाती है। सरकार की ओर से, खासकर प्रधानमंत्री की ओर से विपक्ष के सवालों का जवाब नहीं देने का क्या मतलब है? क्या यह व्यवहार तानाशाही या संसदीय लोकतांत्रिक ढांचे को कमजोर करना नहीं है? पूंजीशाह गौमत अदाणी के मसले को लेकर पिछले दिनों संसद में जो कुछ हुआ, उसका क्या संकेत है?

संसद की कार्यवाही तय दिनों तक नहीं चला कर उसमें क्यों कटौती की जाती है? इससे किसे फायदा और किसे नुकसान है? संसद की कार्यवाही में कटौती का मतलब क्या सरकार का अपने कर्तव्य पालन से पलायन, विपक्ष के अवसर का खात्मा, संसदीय मान्यताओं से खिलवाड़ नहीं है ?

सरकार और विपक्ष एक दूसरे पर संसद नहीं चलने देने का आरोप-प्रत्यारोप लगाते रहते हैं। किसी मुद्दे पर सरकार अड़ जाती है और विपक्ष सरकार के रवैये से क्षुब्ध होकर अपना विरोध जताने में पीछे नही रहना चाहता। कार्यवाही में अवरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। आसन की ओर से कार्यवाही को कभी कुछ घंटों के लिए, तो कभी दिन भर के लिए, कभी-कभी कई दिन तक के लिए स्थगित कर दिया जाता है। इसमें सरकार की सहमति होती है। अवरोध की स्थिति में सरकार की जिम्मेदारी होती है कि बातचीत कर वह विपक्ष को संतुष्ट करे। लेकिन वह मसले के समाधान की बजाय अपने बचाव के मकसद से कार्यवाही स्थगित करने के पक्ष में होती है और अवरोध के लिए विपक्ष को जिम्मेदार ठहराती है। कार्यवाही स्थगित करने, कार्यवाही के दिनों में कटौती करने के वाकया बढ़े हैं।

संसद में प्रश्नकाल के दौरान सदस्यों के कितने सवालों का सरकार जवाब देती है? या शून्यकाल के दौरान उठे कितने मुद्दे पर सरकार गौर करती है? सरकार के दिए गए आश्वासनों पर कितनी कार्रवाई होती है? संसद की विभिन्न कमेटियों की रिपोर्टों में की गई कितनी अनुशंसाएं पूरी होती हैं?

सवाल तो यह भी है कि जिन दलों के जनप्रतिनिधि संसद में पहुंचे हैं, उन दलों में अंदरूनी तौर पर कितना लोकतंत्र बचा रह गया है? दल में ही लोकतंत्र पर सवालिया निशान हो तो उसके प्रतिनिधि कितने लोकतंत्री होगें? सिद्धांतविहीन राजनीति में लिप्त दल या उनके नेताओं पर साफ व स्वस्थ संसदीय राजनीति के लिए कितना भरोसा हो सकता है?

गंप्र

खेल, खेल, हिंदी-हिंदी

विश्व हिंदी सम्मेलन ही क्यों? विश्व भारतीय भाषाओं का सम्मेलन क्यों नहीं?

विश्व में हिंदी के प्रचार और प्रसार का दूसरी भाषाओं के लोग विरोधी नहीं हो सकते। लेकिन उनके मन में यह सवाल जरूर उठ सकता है कि हिंदी की तरह ही उनकी भाषा का प्रचार और प्रसार क्यों नहीं? भारतीय भाषाओं के लोगों के बीच टकराव पुराना है। जब भी हिंदी के प्रचार और प्रसार की बात उठी है तो इस टकराव में तेजी आई है। हिंदी के विरोध में गैर हिंदी के लोग मुखर हो गए। गैर हिंदी के लोगों को लगा कि उनकी भाषा की उपेक्षा हो रही है। कोई भाषा हो, उसके लोग कभी भी अपनी भाषा की उपेक्षा होते देख नहीं सकते। भाथा पर राजनीति होती है। हिंदी का क्षेत्र ज्यादा है, इसलिए भी गैर हिंदी के लोगों को अपनी भाषा की उपेक्षा की आशंका रहती है। जाहिर है कि गैर हिंदी के लोगों को विश्वास में लिए बिना हिंदी के लोगों को अपनी भाषा के प्रचार और प्रसार में सहूलियत नहीं होगी।

सवाल यह भी है कि अंग्रेजी के रहते क्या हिंदी या किसी भी भारतीय भाषा का प्रचार और प्रसार आसान है? भारतीय भाषाओं के लोगों के बीच अपनी-अपनी भाषा को लेकर विवाद है, लेकिन अंग्रेजी को लेकर कोई विवाद नहीं है जबकि अंग्रेजी की ही वजह से भारतीय भाषाओं की उपेक्षा हो रही है। क्या हिंदीभाषी यह दावा कर सकते कि हिंदी पर अंग्रेजी की मार नहीं पड़ी है?

डा. राममनोहर लोहिया की अगुआई में अंग्रेजी हटाओ आंदोलन हो चुका है। लेकिन तत्कालीन सत्ता दल और उसकी सरकार ने उस आंदोलन को विफल करने के लिए ऐसा प्रचार किया कि यह आंदोलन हिंदी के पक्ष में और दूसरी देसी भाषाओं के विरोध में है। अंग्रेजी हटाओ आंदोलन का असर था कि संसद में हिंदी में बोलने का प्रचलन शुरू हुआ। लोहिया के अनुयायी किशन पटनायक ओडियाभाषी होने के बावजूद उन्होंने लोकसभा में हिंदी में बोल कर गैर हिंदीभाषी सांसदों को हिंदी में बोलने के लिए प्रोत्साहित किया। लेकिन भाषा का सवाल जस का जस रह गया। अंग्रेजी हटाओ आंदोलन का मकसद था कि जिस राज्य में जो भाषा है, उसी भाषा में सरकारी कामकाज हो, अंग्रेजी में एक भी कामकाज कतई नहीं।

केंद्र और राज्य सरकारों की अस्पष्ट दृष्टि और अंग्रेजी परस्त होने की वजह से अंग्रेजी का बोलबाला है। उसी में सरकारी या गैर सरकारी कामकाज हो रहा है। देश भर में अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों का भरमार है। वैश्वीकरण और बाजारवाद ने भारतीय भाषाओं पर अलग से कहर बरपाया है। इसे तभी रोका जा सकता है जब भारतीय भाषाओं में हर क्षेत्र में कामकाज हो। ऐसा होने पर देशभर में व्यापक जनमुखी बदलाव और भारतीय भाषाओं का राज हो सकता है।

बच्चों पर बोझ

कम उम्र के बच्चों को स्कूल आते-जाते देख कर प्रसन्नता होती है, लेकिन जैसे ही उनकी पीठ पर लदे किताबों के बैग पर नजर पड़ती है तो दुख होता है। किताबों का बोझ इतना भारी होता है कि बच्चे उसे ढो नहीं पाते। ढोने की बात क्या, उसे सहज ढंग से उठा नहीं पाते। स्कूल पहुंचाते या वहां से ले आते वक्त उनकी मां को बैग ढोना पड़ता है। अगर बच्चा वाहन से जाता है तो वहां तक मां को ही बैग पहुंचाना-लाना पड़ता है। स्कूल के शिक्षकों के आदेश के मुताबिक ही बच्चों को सभी किताबों और उसके साथ कापियों को ले जाना पड़ता है। ऐसा नहीं करने पर बच्चे को सजा मिलती है। अभिभावक करें तो क्या करें, खुद बच्चों बैग ढोते हैं। 'प्रोजेक्ट' या दूसरे कार्य भी बच्चों के बदले अभिभावकों को ही करना पड़ता है। शिक्षक इससे अनजान नहीं होते। बच्चा भले न जाने-सीखे, उसे ज्यादा से ज्यादा नंबर मिले।

संवादिक

क्या अदाणी का गुब्बारा फूट चुका?

अरविन्द मोहन

यह तो चमत्कार हो जाता कि अडानी घोटाले में प्रधानमंत्री बहुत साफ-साफ जबाव देते हुए कुछ कार्रवाई की घोषणा करते। लेकिन बजट सत्र के दिन इस मुद्दे पर हंगामे के बाद राष्ट्रपति के अभिभाषण पर बोलते हुए उन्होंने जिस स्तर की बातचीत की और जिस तरह इस घोटाले साथ अपनी उपलब्धियों की चर्चा की उसकी भी उम्मीद बहुत कम लोगों को होगी। इस मामले में अगुआई करते हुए राहुल गांधी ने, जिनका उत्साह भारत जोड़ो यात्रा की सफलता से आसमान पर है, सरकार और नरेंद्र मोदी पर सीधे-सीधे हमले किए थे और कुछ सवाल उठाए थे जो अनिवार्यतः उस अमरीकी हिंडनबर्ग रिसर्च की रिपोर्ट आने के बाद सबसे मन में थे। बात इससे भी बढ़ कर है क्योंकि भारतीय जीवन बीमा और सरकारी बैंकों का हजारों-करोड़ों रुपया इस समूह में लगा है और भारी नुकसान अभी ही हो चुका है। प्रधानमंत्री ने उनके जवाब तो नहीं ही दिए, वे और भाजपा के नेता राहुल गांधी और उनके परिवार के नाम लगे आरोपों को उठाने लगे। नौ साल शासन में होने के बाद कार्रवाई करने की जगह जवाबी आरोप लगाने का क्या मतलब है, यह समझना मुश्किल है लेकिन उससे हिंडनबर्ग रिसर्च द्वारा उठाए मुद्दे छुपने वाले नहीं हैं। पर इतना जरूर हो गया है कि सरकरा का रुख साफ हो जाने के बाद इस मुद्दे को ज्यादा जोर से उठाने और जनता की तरफ से दबाव बनाने का जिम्मा विपक्ष, मीडिया और अदालती पहल आ गया है। वे क्या करते हैं इस पर उनका लाभ-घाटा तो है ही, मुल्क और अर्थ व्यवस्था का काफी कुछ निर्भर करता है।

क्योंकि गौतम अदाणी की संपत्ति का बेतहाशा बढ़ना और बेतहाशा रफ्तार से बढ़ना उनके लिए और उनको हर जायज-नाजायज ढंग से मदद देने वालों के लिए गर्व की बात होगी, देश के तेज आर्थिक विकास का उदाहरण होगा लेकिन आर्थिक कामकाज को जरा भी जानने वाले दुनिया भर के लोगों के लिए यह शर्मनाक प्रकरण है। जिस रफ्तार में उनकी या उससे पहले अंबानी जैसे दूसरे पूंजीपति घरानों की संपत्ति बढ़ी है वह किसी भी तरह के उत्पादक काम करने वाले और ईमानदार कर दाता के लिए संभव ही नहीं है। दुनिया और भारत में 'क्रोनी कैपिटलिज्म' के उदाहरण कम नहीं रहे हैं लेकिन इस तरह का नंगापन अभी तक कहीं नहीं दिखा है। संभव है भविष्य में कोई नरेंद्र मोदी और गौतम अदाणी से भी आगे निकल जाए लेकिन अभी तक ऐसा कहीं और नहीं हुआ है। साल में, छह माह में संपत्ति का दस-बीस गुना बढ़ाना सचमुच मजाक का विषय ही हो सकता है लेकिन इस मामले में ऐसा ही हुआ है। हम सभी शेयर बाजार में किसी कंपनी के कामकाज के लिए पेड-इक्विटी रेशियों को एक पैमाना बना कर शेयर खरीदते-बेचते हैं। जितना ज्यादा अनुपात उतना अच्छा शेयर माना जाता है। निफ्टी में शामिल कंपनियों का अनुपात बीस के करीब है लेकिन गौतम अदाणी की एक कंपनी का पी-ई अनुपात छह सौ है तो दूसरी का तीन सौ से ज्यादा। यह मजाक जैसा ही लगता है।

यह मुद्दा भी हिंडनबर्ग रिसर्च की 106 की रिपोर्ट में है। इसके साथ ही उसने जिन चीजों को सप्रमाण सामने रखा है वह है 'शेस कंपनियों' अर्थात सिर्फ कागज पर चलने वाली कंपनियों के सहारे अदाणी की कंपनियों में भारी भरकम निवेश। ऐसा भी निवेश है जो बाजार की कीमत से कई गुना ऊपर रेट पर शेयर खरीदने का है। कई बार बाजार से ऊंची दर पर शेयर बेचने के भी मामले हैं। इन शेल कंपनियों में पूंजी आने के स्रोत संदिग्ध हैं। फिर मुनाफे को फर्जी कंपनियों के

हवाले करके वास्तविक निवेशकों को लाभ से वंचित रखने जैसे काम हैं। और इन जीचों पर भारतीय रेगुलेटरों और वित्तीय प्रशासकों की नजर क्यों नहीं रही इसे समझना मुश्किल नहीं है क्योंकि जब प्रधानमंत्री समेत पूरी भाजपा और सरकार अदाणी पर मेहरबान है तो बिल्ली के गले में घंटी कौन बांधेगा। और यह सवाल सही ही उठा रहा है (हालांकि उसे अपने कुकर्मों पर परदा डालने के लिए इस्तेमाल कर रही है) कि कांग्रेसी सरकारें भी क्यों अडानी के आगे बिछी जा रही है। ऐसी जांच और पड़ताल अंतरराष्ट्रीय एजेंसियों और संस्थाओं से संभव है और हिंडनबर्ग रिपोर्ट ने यही किया है। निवेश और व्यापार को वैश्विक बनाने के लिए आपको अपने वित्तीय हिसाब-किताब भी बताने ही होते हैं और उससे ऐसे घोटालों को छुपाना संभव नहीं रहता।

ऐसा नहीं है कि हिंडनबर्ग रिसर्च ने ही पहली बार अदाणी के घोटालों पर उंगली रखी है। अपने यहां भी परंजय गुहा ठकुरता समेत कई लोगों ने ऐसी चीजें सामने लाकर हंगामा मचाया था लेकिन सरकार ने न सिर्फ उन्हें दंडित और परेशान किया बल्कि अडानी को ज्यादा जोर-शोर से मदद करनी शुरू की। और यह काम इस ढिठाई से हुआ कि इसमें कायदे कानून ही नहीं, लोक लज्जा की भी परवाह न की गई। प्रधानमंत्री अदाणी के लिए ज्यादातर विदेश यात्राओं में ले गए, उनके निजी विमान का उपयोग करते रहे हैं और उनके व्यवसाय को बढ़ाने का प्रयास किया। आस्ट्रेलिया में उन्होंने न सिर्फ उन्हें एक कोयला खादान का लीज दिलवाया बल्कि बगैर किसी औपचारिका के पूरा हुए भारतीय स्टेट बैंक से छह हजार करोड़ रुपये का ऋण देने की घोषणा कर दी। उनकी कंपनियों को जमीन, ऋण और सुविधाएं देने में ही नहीं उनकी सेवाएं लेने और उनके उत्पाद खरीद की काउंटर गारंटी देने में भी इसी तरह की ढिठाई दिखाई गई। अडानी पोर्ट पर सरकारी की जगह निजी सुरक्षा व्यवस्था चलाने दी गई और जब नशीले पदार्थ का सबसे बड़ा खेप पकड़ा गया तो उसका मामला भी कहां बिला गया पता नहीं। अदाणी के संपत्ति के बेतहाशा बढ़ाने को भी सरकार अपनी उपलब्धियां की तरह प्रचारित करती रही और हमारे चालाक, स्मार्ट निवेशक उनकी कंपनियों के शेयर की दुम पकड़े-पकड़े अमीर होते रहे। यह सब शान से चल रहा था।

लेकिन हिंडनबर्ग रिपोर्ट ने इस गुब्बारे में सूई चुभोई और सचमुच यह फुस्स हो गया। सर्किट ब्रेकर लगा-लगा कर अदाणी ग्रुप के शेयरो की गिरावट रोकी गई तब भी हजारों करोड़ का नुकसान हो गया। उनकी रिपोर्ट में देशी-विदेशी का अंतर नहीं है लेकिन असर सब पर पड़ा। बाजार को लुभावे वाले अच्छे बजट प्रावधान भी उसका मूड ठीक नहीं रख पाए। एकाध दिन ऐसा भी हुआ कि बाजार चढ़ा और अडानी के शेयरों को सक्रीट ब्रेकर के सहारे संभालना पड़ा। तब भारतीय जीवन बीमा निगम के लगभग छत्तीस हजार करोड़ और भारतीय स्टेट बैंक के हजारों करोड़ समेत दूसरे



बैंकों का भी भारी नुकसान हो चुका था। आम निवेशकों के नुकसान की तो कोई गिनती नहीं हुई जबकि अदाणी दुनिया के सबसे अमीर दूसरे, तीसरे व्यक्ति की कुर्सी से लुढ़क कर जाने कितना नीचे पहुंच गए थे। हिंडनबर्ग की 106 पेज की रिपोर्ट का अदाणी ने चार सौ से ज्यादा पन्नों में जवाब दिया और घोटाले के आरोपों का जवाब देने की जगह इस मामले को 'राष्ट्र पर हमला' बतला दिया। बाजार तब भी नहीं संभला। तब जाकर पहली बार वित्त मंत्री प्रकट हुई और यह महत्वपूर्ण घोषणा की कि अदाणी समूह में पूंजी लगाने वाले

बैंकों के कर्ज की रकम सुरक्षित है। इसके वास्तविक वित्तीय आधार की किसी ने पड़ताल नहीं की लेकिन इस बयान से अदाणी समूह को लाभ हुआ। और फिर भाजपा के प्रवक्ता और लोग हिंडनबर्ग रिपोर्ट को विदेशी साजिश और बाजार के आपरेटरों का खेल बताने में जुट गए। जब खुद प्रधानमंत्री का बयान हो गया तो अदाणी के शेयरों का रुख बदलने में ज्यादा वक्त नहीं लगा। पर उसके बाद भी डांवांडोल स्थिति बरकरार है।

अदाणी खुद भी प्रकट हो गए हैं और अब यह भी कहते हैं कि उन्हें हीरे के व्यापार के बाहर लाने वाले पहले लोगों में राजीव गांधी थे। आज भी छत्तीसगढ़ और राजस्थान की कांग्रेसी सरकारों समेत उनके हितैषी बहुत सारे लोग हैं। लेकिन उनका वास्तविक उड़ान तभी से शुरू हुआ है जब नरेंद्र मोदी गुजरात के मुख्यमंत्री बने। तब से इन दोनों के संबंध घनिष्ठ हुए हैं। बिजली खरीद का महंगा काउंटर गारंटी देने से लेकर हर तरह से मदद देने का नतीजा है कि आज यह समूह सबसे बड़ा बन गया था। और नए उत्पादन और निर्माण में तो इसने जो काम किया, कमाई की, काला-सफेद किया, इसने पहले के सरकारी और सहकारी प्रयासों पर भी पानी फेरा है। जिस आमूल वाले कुरियन वरगीज ने लाख जतन करके गुजरात के तेलिया सेठों का वर्चस्व तोड़ा और धारा को एक ब्रांड के तौर पर देश का सबसे बड़ा खाद्य तेल ब्रांड बनाया, उनकी आत्मा आज रो ही रही होगी क्योंकि मोदी-अदाणी ने फरचूं को सबसे बड़ा ब्रांड बना दिया है। एकाधिकार और प्रतिबंधात्मक व्यापार कानून क्या होते थे आज अदाणी न जानते हैं न जानने देते हैं। मोदी भी व्यवसाय की आजादी के नाम पर अदाणी की सेवा में कोई कमी नहीं रहने देना चाहते। कहना न होगा कि यह रिश्ता एकतरफा नहीं है। अकेले अदाणी चुनावी चंदे में ही मोदी और भाजपा को इतनी मदद देते हैं जितनी अच्छी भली कंपनियों का टर्नओवर है। बाकी हिसाब क्या है, यह कोई हाथ ही नहीं लगाता।

हिंडनबर्ग रिपोर्ट के बाद शेयरो और समृद्धि की गिरावट एक पक्ष है और जांच दूसरा। सरकार की तरफ से ऐसा नहीं होगा यह तो ज्ञात हो चुका लेकिन सभी लोग आंख नहीं मूंद लेंगे। खोजी पत्रकार और कानूनी लड़ाके तो लगेंगे ही। बाजार पर निगरानी के लिए जो संस्थाएं बनी और काम कर रहीं हैं उनको भी मन-बेमन से यह काम करना ही होगा। और वे नरेंद्र मोदी की तरह आज उठे सवालों से मुंह नहीं फेर सकतीं। सेबी, निवेश बैंकर (जिनका हाथ जला है और जिन्हें बाजार में रहना ही है), साझा कोष, क्रेडिट एजेंसियां, कथित थिंक टैंक, मीडिया, न्यायपालिका और संभव हुआ तो दोबारा संसद को भी इन सवालों पर विचार करना ही होगा और हर कोई 'मैनेज' हो जाए यह संभव नहीं, पर इतना तो मानो कि जब तक आम लोगों और विपक्ष की तरफ से उचित दबाव नहीं बनेगा तब तक बात ज्यादा आगे नहीं बढ़ेगी। राहुल गांधी और कांग्रेस ऐसा कर पाएगी इसमें गंभीर शक है। और अखिलेश, मायावती, स्टालिन, केसीआर, केजरीवाल, नीतीश, ममता, पटनायक और जगन रेड्डी जैसों के लिए तो यह असंभव चीज है। वे इसे मुद्दा भी माने यह भी मुश्किल लगता है।

भ्रष्टाचार भारत में व्यवस्था का एक अंग है। ऐसे नियम कायदे बने हुए है कि भ्रष्टाचार पनपेगा ही। प्रशासन के नियम और ढांचे के बारे में कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। प्रशासन सुधार राजनीति का कोई मुद्दा नहीं है, भ्रष्टाचार विरोधियों का भी मुद्दा नहीं है। तमाम ऐसे प्रावधान हैं, जिसकी आड़ में सरकारी लोग बिना घूस के काम नहीं कर सकते। वे प्रावधान हट जाए, या उनकी जगह सरल और पारदर्शी प्रावधान बना दिए जाए तो भ्रष्टाचार पर करारा चोट होगी। सेवा निवृत्त होने के बाद सरकारी या अर्ध सरकारी लोगों को भी अपना वाजिब धन प्राप्त करने के लिए घूस देना पड़ता है। ऐसा नहीं करें तो उन्हें कब तक भटकना पड़ेगा, अनिश्चित है।

किशन पटनायक

देश में सहचर-पूंजीवाद का बोलबाला

भारत भूषण चौधरी

आजादी के बाद की तत्कालीन सरकार ने इस देश के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था का चयन किया जिसके तहत बड़े स्तर पर देश-विदेश से कर्ज लेकर और ओवरड्राफ्ट के माध्यम से पूंजी की व्यवस्था कर उत्पादन और सेवाओं के लिए सरकारी संस्थानों की स्थापना की गई। साथ ही देश के निजी उद्योगपतियों को भी उद्योग लगाने और व्यापार बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। यह एक ऐसा दौर था जब रोजमर्रा के इस्तेमाल में आने वाले वस्तुओं और सेवाओं का देश में अभाव था। कुल मांग आपूर्ति से ज्यादा थी। ऐसी स्थिति का लाभ उठा कर लालची व्यापारी, भ्रष्ट राजनेता और अधिकारियों के गठजोड़ ने वस्तुओं और सेवाओं की कालाबाजारी को सर्वव्यापी बना दिया। इस बुराई को रोकने के लिए बड़े पैमाने पर इंस्पेक्टर और नौकरशाहों की फौज खड़ी की गई जो कालांतर में अपने आप में एक नासूर बन गया और बुराई को रोकने की जगह भ्रष्टाचार में शामिल होकर उसे बढ़ावा देने लगा। इन चार दशकों के अपने अस्तित्व के दौरान सरकारी संस्थाओं का प्रदर्शन वित्तीय मानदंडों पर निराशाजनक रहा। पेट्रोलियम, कोयला, बिजली उत्पादन जैसे कुछ एकाधिकार वाले क्षेत्रों को छोड़ कर बाकी क्षेत्रों के सरकारी संस्थान सालों साल घाटे में रहे। केंद्र सरकार, जिसने इन संस्थाओं को बनाने के लिए और वर्षों तक उनके घाटे को पूरा करने के लिए बड़ी मात्रा में उधार ले रखा था, आगे और वित्तीय नुकसान उठाने की स्थिति में नहीं था। हालांकि इन सरकारी संस्थाओं के खराब प्रदर्शन के लिए जिन कारणों को चिह्नित किया गया उनमें मुख्य थे सरकार और राजनीतिज्ञों का अत्यधिक हस्तक्षेप, भ्रष्ट और अक्षम अधिकारियों को राजनीतिक संरक्षण और प्रोफेशनलिज्म का अभाव।

अस्सी और नब्बे के दशकों में पूरी दुनिया में आर्थिक पटल पर अप्रत्याशित बदलाव हुए। सोवियत संघ, जहां सारी आर्थिक गतिविधियां सरकारी संस्थाओं द्वारा परिचालित होती थीं, आर्थिक रूप से दिवालिया होकर बिखर गया। चीन आर्थिक मामलों में पूंजीवाद के रास्ते चल पड़ा। पूंजी और निवेश के लिए भारत जैसे देश पश्चिम के बैंक, अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं और विदेशी पूंजी पर निर्भर हो गए। देर-सबेर पूरी दुनिया ने उदारीकरण और वैश्वीकरण को अपना लिया। हमारे देश में भी नब्बे के दशक और उसके बाद के सभी सरकारों ने पूंजीवादी व्यवस्था को सिर्फ अपनाया ही नहीं बल्कि बढ़ावा दिया। कोटा परमिट राज के दौर के राजनेता, नौकरशाह और उनके करीबी उद्योगपति, जिन्होंने इस व्यवस्था का भरपूर लाभ उठाया था, नव धनाढ्यों के एक नए और ताकतवर समूह बन गए। इस खेल में अव्वल नंबर पर अंबानी थे जिन्होंने कांग्रेस के शीर्ष नेताओं की मिलीभगत से सिंथेटिक यार्न, पेट्रोकेमिकल और फिर पूरे पेट्रोलियम के बिजनेस में अपने आप को अग्रणी बना लिया। इस तरह के और भी कई उद्योगपतियों के उदाहरण मौजूद हैं। पूंजीपति और सरकार के गठजोड़ के बड़े उदाहरण जापान, दक्षिण कोरिया, रूस आदि देशों में देखने को मिले हैं जिनके उजागर होने के राष्ट्राध्यक्षों और मंत्रियों, नौकरशाहों को इस्तीफा देने से लेकर जेल की सजा भी काटनी पड़ी है। आर्थिक और राजनीतिक, दोनों के विद्वानों का मानना है कि इस कुरीति का मुख्य स्रोत है राजनीतिक चंदे में पारदर्शिता का अभाव।

उदारीकरण और वैश्वीकरण के इस दौर में देश-विदेश के छोटे-बड़े निवेशक स्टॉक मार्केट में अपना पैसा लगाने लगे जिसका उपयोग उद्योगपति अपने उद्योग और व्यापार को

बढ़ाने में इस्तेमाल करते और उससे प्राप्त लाभ का एक हिस्सा अपने निवेशकों के साथ साझा करते। पिछले चार दशकों में भारत का मध्यम वर्ग जो पहले बैंकों, पोस्ट आफिसों के बचत खातों में या सोना में अपने बचत को वृद्धि के लिए रखता था वह स्टॉक मार्केट की ओर आकर्षित हुआ जहां उसे कई गुना अधिक लाभ मिलने की संभावना थी। इस तरह पश्चिम के देशों की तर्ज पर भारत का स्टॉक मार्केट भी एक मुख्य आर्थिक केंद्र बना जिसका देश के आर्थिक विकास और वेल्थ जेनरेशन में एक महत्वपूर्ण योगदान रहा। बाजार आधारिक अर्थ व्यवस्था के पक्ष में एक मुख्य तर्क है कि जब बहुत सारे लोग अपना पैसा लगाते हैं और वे इस पर नजर रखते हैं तो सामूहिक बुद्धिमता (कलेक्टिव विजडम) का लाभ मिलता है जो कुछ सीमित लोगों के बुद्धिमता से हमेशा बेहतर परिणाम देगा। लेकिन यह तर्क तभी तक वैध होते हैं जब तक कारोबार पर नजर रखने वाली संस्थाएं और पत्रकार ईमानदारी से काम करें। पूरी दुनिया में और भारत में भी स्टॉक मार्केट में समय-समय पर बड़ी धोखाधड़ी होती रही है। 1992 के हर्षद मेहता और 2001 के केतन पारेख की ऐतिहासिक स्टॉक मार्केट धोखाधड़ी ने नियामक व्यवस्था की पोल खोल दी। इन कांडों से सीख लेकर नए नियम बनाए गए और सेबी जैसी संस्था को समय-समय पर अतिरिक्त अधिकार दिए गए लेकिन इन सारी संस्थाओं पर केंद्र सरकार का नियंत्रण होता है और इनके शीर्ष पदों पर अधिकारियों की बहाली केंद्र सरकार करती है। ये संस्थाएं उतनी ही निष्पक्षता और पेशेवर प्रतिबद्धता से काम कर पाती हैं कि जितना केंद्र सरकार चाहती है।

नरेंद्र मोदी के राजनीतिक यात्रा के पहलुओं, जैसे 2002 के गुजरात दंगे आदि का विश्लेषण देश-विदेश में काफी होता रहा है। लेकिन एक महत्वपूर्ण पहलू जो विश्लेषण का बिंदु नही बना है, वह है राजनीति और चुनाव के लिए अकूत धन जुटाने का उनका नायाब तरीका। पारंपरिक तौर पर हर राजनेता और राजनीतिक दल चुनाव के लिए व्यापारियों, पूंजीपतियों से पैसा लेते हैं और सफल होने पर उनके हितों के लिए काम करते हैं। यह पहलू पूंजीवादी-लोकतंत्र का एक अभिन्न अंग है। मोदी ने इस पोस्ट पेड व्यवस्था को अन लिमिटेड प्री पेड व्यव्था में परिवर्तित किया। 7 अक्टूबर 2001 को गुजरात का मुख्यमंत्री बनने के शुरुआती दौर में ही मोदी का संपर्क गौतम अदाणी से हुआ और इन दोनों का लेन-देन का सिलसिला इतनी तेजी और मजबूती से चला कि अगले बीस सालों में पहले गुजरात में मुख्यमंत्री रहते हुए और बाद में 2014 में प्रधानमंत्री बनने के बाद सभी मलाईदार ठेके, प्रोजेक्ट, सरकारी उपक्रम आदि अदाणी के झोले में जाते रहे। एवज में चुनाव और राजनीतिक खर्च के लिए दसियों हजार करोड़ रुपये भाजपा को मिलते रहे। इस गठजोड़ के माध्यम से गौतम अदाणी जो 2014 में आठ बिलियन डॉलर की संपत्ति के मालिक थे और विश्व में धनी व्यक्तियों की सूची में 609वें स्थान पर थे, 2022 में 150 बिलियन डॉलर की संपत्ति के मालिक बन गए और दुनिया के दूसरे धनी व्यक्ति बन गए। गौतम अदाणी का कारोबार एक दर्जन बंदरगाह / एसईजेड / कंटेनर हैंडलिंग फेसेलिटीज, सात हवाई अड्डों के मिल्कियत, कोलया आयात, बिजली उत्पादन, बिजली वितरण, खनन, अक्षय उर्जा, गैस वितरण, खाद्य तेलों और खाद्य पदार्थों का प्रसंस्करण / भंडारण / बिक्री, सीमेंट उत्पादन और विपणन, रियल स्टेट, डेटा स्टोरिज, सैनिक आपूर्ति और मीडिया तक सभी महत्वपूरण क्षेत्रों में फैल गया। इन सभी क्षेत्रों में अदाणी समूह सबसे बड़ा या दूसरे नंबर का खिलाड़ी है। 23 000 से अधिक कर्मचारी और 578 सहयोगी कंपनी वाले इस समूह के प्रमुख कंपनी बने – अदाणी इंटरप्रायजेज, अदाणी पोर्ट एंड सेज, अदाणी ग्रनी एनर्जी, अदाणी पावर, अदाणी ट्रांसमिशन, अदाणी टोटाल गैस, अदाणी मिल्मर, अंबुजा सिमेंट, एसीसी, नार्थ क्वीन्सलैंड एस्पोर्ट टर्मिनल, अदाणी फाउंडेशन और एनडीटीवी। गौरतलब है कि हीरो का व्यापार करने वाले गौतम अदाणी को इनमें से किसी क्षेत्र का अनुभव नहीं था और उनके उद्योग/व्यापार का अंधाधुंध विस्तार सरकारों द्वारा सस्ते जमीन, सरकारी वैंकों द्वारा बेतहाशा लोन, प्रतियोगियों को बाहर रखने के लिए नियमों में बदलाव और सरकारी जांच संस्थाओं सीबीआई, आईटी, ईडी आदि का खुल कर इस्तेमाल के माध्यम से

अधिग्रहण के रास्ते हुआ न कि जैविक विकास (आर्गेनिक ग्रोथ) के रास्ते। चर्चा तो यहां तक है कि मोदी के विदेश यात्राओं के समय अदाणी साथ होते थे और कई देशों में उन यात्राओं के तुरत बाद अदाणी के व्यापार का सिलसिला आरंभ होता था।

इन अनियमितताओं के बारे में मीडिया में लगातार खबरें छपती रहीं लेकिन सेबी, डीआरआई व अन्य नियामक संस्थाओं द्वारा किसी प्रकार की निर्णायक जांच नहीं की गई। मोदी द्वारा अदाणी को पूर्ण संरक्षण देने की बात राजनीतिक दल और विशेष कर राहुल गांधी लगातार उठाते रहे हैं। लेकिन इनका गठजोड़ अपने धंधे को बेशर्मी से निर्बाध चलाता रहा। भारत की नामी अंग्रेजी पत्रिका द इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली के जून 2017 के अंक में एक लेख छापा गया जिसका शीर्षक था 'मोदी सरकार का अदाणी समूह के लिए 500 करोड़ रुपये की सौगात'। मीडिया को धमकाने के उद्देश्य से अदाणी समूह ने इस पत्रिका के तत्कालीन संपादक प्रणांजय गुहा ठाकुरता और अन्य पत्रकार अद्वैत राओ पालेपू, शिनजिनी जैन और अबीर दासगुप्त के ऊपर क्रिमिनल डिफिमेशन का मुकदमा दायर कर दिया। साथ ही एम के रेणु पर भी जो अंग्रेजी समाचार पोर्टल 'द वायर' के फाउंडिग एडिटर हैं और जिन्होंने अपने पोर्टल पर इस रिपोर्ट को छापा था, उनके ऊपर भी क्रिमिनल डिफेमेशन का मुकदमा दायर किया गया। प्रणांजय गुहा ठाकुरता ने तो दर्जनों लेख अदाणी के अनियमितताओं के बारे में लिखे जिसके कारण इस समूह ने उन पर अलग-अदालतों में छह मानहानि के मुकदमें कर दिए जो अभी भी चल रहे हैं। एक अदालत ने तो उनके विरुद्ध नान वेलेबुल वार्ट भी जारी किया और एक मुकदमें में न्यायालय ने उन पर अदाणी के विरुद्ध कुछ भी लिखने, बोलने पर प्रतिबंध लगा दिया जो आज तक जारी है। हिंडनबर्ग रिसर्च ने अपने 413 पन्नों के विस्तृत रिपोर्ट में प्रणांजय गुहा ठाकुरता द्वारा अदाणी ने संबंधित खुलासों का और भारत के व्यवस्था द्वारा उनके ऊपर किया जा रहे दमनात्मक कदमों का जिक्र भी किया है। संपेक्ष में कहें तो मोदी सरकार के निर्बाध सहायता से अदाणी समूह ने साम, दाम, दंड, भेद के सारे तरीके इस्तेमाल कर अपने कारोबार को भारत और विदेशों में (बांग्लादेश, श्रीलंका, नेपाल, म्यांमार, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका, इजरायल, इंडोनेशिया आदि) फैलाया जिसमें प्रधानमंत्री ने देश और पद के प्रतिष्ठा की परवाह किए बिना उनकी खुल कर मदद की। ये वाकया लगातार खबरों और राजनीति की सुर्खियां बनती रहीं लेकिन कहीं से किसी कार्यवाही की शुरुआत नहीं की गई। पाप का घड़ा साल दर साल भरता गया।

यह पाप का घड़ा 25 जनवरी 2023 को फूटा जब अमरीकी निवेश अनुसंधान फर्म हिंडनबर्ग रिसर्च ने, जिसकी स्थापना 2017 में हुई थी और जिन्होंने अब तक 16 कंपनियों के कारोबार के बारे में विस्तृत से जांच की है, एक विस्तृत रिपोर्ट जारी कर खुलासा किया है कि भारत में अब तक के सबसे बड़े कारपोरेट फ्रॉड में अदाणी समूह लिप्त है। इसके मुख्य आरोप है कि अदाणी समूह ने अपने शेयर को 42 गुना ओवर वैल्यू किया, दो साल के अंदर पी/ई रेसियो को 13.3 से बढ़ा कर अविश्वसनीय 286 पर ले गए, आठ साल में 5 सीएफओ बदला, डेब्ट फ्यूल्ड बिजनेस यानी कृत्रिम रूप से बढ़ाए गए शेयर के भाव के आधार पर बैंकों से पात्रता (इनटाइटलमेंट) से कई गुना अधिक लोन निकाला, अदाणी समूह पर 2.2 लाख करोड़ रुपये कर्ज है जो इनकी हैसियत से कई गुना ज्यादा है, अदाणी परिवार के सदस्यों ने मॉरिशस, साइप्रस, सिंगापुर, यूएई और कैरीबियन द्वीप समूह जैसे टैक्स हैवन में 38 शेल कंपनियां बना कर एक विशाल मायाजाल द्वारा अरबों रुपये के काले धन का कारोबार किया, स्टॉक्स का इनसाइडर ट्रेडिंग और स्टॉक मैनिपुलेशन किया और इतने बड़े कारोबार का किसी स्थापित और प्रतिष्ठित आडिटर फार्म से आडिट नहीं करवा कर एक बहुत ही छोटे और अनुभवहीन आडिटर फार्म को अपना अडिटर बनाए रखा। इस खुलासे के बाद भारत के स्टॉक मार्केट में हड़कंप मच गया और अदाणी समूह के सभी दस लिस्टेड शेयरों का भारी गिरावट का सिलसिला शुरू हो गया। 25 जनवरी से आरंभ हुए गिरावट का सिलसिला इस रपट को लिखने, 6 फरवरी की शाम तक जारी था। गिरावट इतना भयंकर हुआ कि

अदाणी समूह के दस प्रमुख कंपनियों के बाजार मूल्य 48.9 प्रतिशत गिर कर 19.21 लाख करोड़ रुपयों से 9.82 लाख करोड़ रुपयों पर आ गए।

भारत सरकार के इस घोटाले में लिप्तता का एक और नमूना यह है कि अदाणी समूह द्वारा जब शेयर वैल्यू मैनिपुलेशन किया जा रहा था उस दौरान एलआईसी ने, जो पूर्णतया भारत सरकार के अधीन का उपक्रम है, बिना गहन जांच-पड़ताल के अदाणी के कंपनियों में अपनी हिस्सेदारी कई गुना बढ़ाई। एलआईसी का अदाणी समूह में कुल 44, 713 करोड़ रुपये का निवेश है, जिसका ब्योरा है – अदाणी टोटल गैस में 13,593 करोड़, अदाणी पोर्ट में 15,140 करोड़, अदाणी एंटरप्राइजस में 8,323 करोड़ और अदाणी ट्रांसमिशन में 7,658 करोड़। प्रतिशत के हिसाब से इन कंपनियों में एलआईसी की हिस्सेदारी क्रमशः 5.11 प्रतिशत, 9.92 प्रतिशत, 3.54 प्रतिशत और 3.07 प्रतिशत है। यहां तुलनात्मक अध्ययन के लिए बता दें कि बाकी जिन कंपनियों में एसआईसी का सबसे ज्यादा निवेश है वे हैं – रिलायंस इंडस्ट्रीज 95,274 करोड़ रुपये, टीसीएस और इन्फोसिस मिला कर 95,488 करोड़ रुपये, आईटीसी 43,557 करोड़ रुपये और एसबीआई 33,855 करोड़ रुपये। ये सारे आंकड़े 31 दिसंबर 2022 के हैं। यह आंकड़े बताते हैं कि आम तौर पर एलआईसी पुराने और स्थापित कंपनियों में, जिनके लंबे समय तक अच्छे रिकार्ड हों, उनमें सावधानी से निवेश करती है। लेकिन अदाणी के मामले में आकलन में ढील दी गई और बड़ी मात्रा में जल्दबाजी में निवेश किया गया। ऐसा क्यों हुआ यह तो निष्पक्ष जांच से ही पता चल सकता है लेकिन इतना साफ है कि इस नुकसान का खामियाजा एलआईसी के 29 करोड़ पॉलिसी होल्डर को उठाना पड़ेगा।

पिछले कई हफ्तों से पूरे देश में इस अदाणी कांड को लेकर महाभारत मचा हुआ है। संसद के दोनों सदनों में लगातार हंगामा हुआ। विपक्ष ने इस महाघोटाले पर विस्तृत चर्चा की मांग की जिसका भाजपा और मोदी सरकार ने हमेशा की तरह अनदेखी किया। सुचिता, सादगी और देश भक्ति की कसमें खाने वाली आरएसएस सिद्दत से अदाणी के कुकर्मों पर पर्दा डालने के लिए धर्म और जाति संबंधित बयानों को तेजी से बाजार में उतार रही है। सरकार और भाजपा के सभी प्रवक्ता और गोदी मीडिया अदाणी के बचाव में पूरी तरह से मैदान में हैं लेकिन स्टॉक मार्केट उनका साथ नहीं दे रहा है। अदाणी के शेयर भाव और उनकी संपत्ति लगातार कम होती जा रही है। पूरी दुनिया के दूसरे नंबर के अमीर रहे गौतम अदाणी इन दिनों खिसक कर 22वें स्थान पर आ गए हैं। उनकी संपत्ति जो दस दिन पहले 150 बिलियन डॉलर हुआ करती थी (जो कतर जैसे देश के जीडीपी से भी ज्यादा है) आज के दिन में मात्र 54.8 बिलियन डॉलर रह गई है। उन्हें 40,000 करोड़ रुपये का अपना एफपीओ जिसे इन्होंने येन केन प्रकारेण इंस्टीट्यूशनल इनवेस्टर्स से पूरी तरह सब्सक्राइब करवा लिया था, उसे भी निरस्त करना पड़ा क्योंकि बाजार में यही शेयर आधे दामों पर मिल रहे थे। शुरुआत में अदाणी कंपनी ने हिंडनबर्ग रिसर्च पर कानूनी कार्रवाई की बात की थी लेकिन ऐसा उन्हें अमरीका की अदालत में करना पड़ेगा और वहां इनको अपने सारे कागजात जमा करने पड़ेंगे जिससे उनका कच्चा चिट्ठा और भी खुलेगा। इसलिए मुकदमा करने के बात को फिर दोहराया नहीं गया।

अमरीकी निवेश अनुसंधान फर्म हिंडनबर्ग रिसर्च द्वारा किए गए खुलासे से पहले भी अदाणी समूह पर कई घोटालों के आरोप लग चुके थे, जिनमें प्रमुख थे – साल 2006 का 680 करोड़ रुपये का हीरा व्यापार में टैक्स चोरी का मामला, साल 2010 में 600 करोड़ रुपये का लौह अयस्क घोटाला, दोबारा साल 2014 में 600 करोड़ रुपये का लौह अयस्क का घोटाला और साल 2016 में 29000 करोड़ रुपये का कोयला घोटाला। लेकिन शीर्षस्थ पद पर बैठे राजनीतिज्ञ के वरदहस्त होने के कारण इनमें से किसी भी मामले में कोई कार्रवाई नहीं हुई। 'भ्रष्टाचार के प्रति जीरो टालरेंस' और 'देश नहीं बिकने दूंगा' का गाल बजाने वाले सककार ने बेशर्मी और धृष्टता से इन कांडों पर जांच नहीं करवाई और देश को हिंदू-मुसलमान में उलझाए रखा। सिंतबर 2001 में अदाणी के ही बंदरगाह मुंद्रा से 21000 करोड़ रुपये मूल्य के तीन टन ड्रग पकड़े गए थे. जिसकी जांच अभी तक लंबित है।

आज के दिन में हमारे सामने चुनौती है कि इतने सारे तथ्यों के सामने आ जाने और अदाणी द्वारा किए गए घोटालों के उजागर होने के बावजूद क्या इन मामलों की निष्पक्ष जांच हो पाएगी? यह सच्चाई जनता के सामने आएगी कि मोदी अदाणी गठजोड़ का देश के आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों पर क्या असर पड़ा? आम जनता की कितनी कमाई और पूंजी अदाणी और उन जैसे सहचर पूंजीपतियों को मोदी ने अपने कार्यकाल में लुटाया? यहां याद दिला दें कि मोदी सरकार के कार्यकाल में ही है नीरव मोदी 14,000 करोड़ रुपये, मेहुल चोकसी 8,000 करोड़ रुपये और विजय माल्या 9000 करोड़ रुपये सरकारी बैंकों के लूट कर देश से चंपत हो चुके हैं और इन घोटालों में भी सत्ताधारी नेताओं की लिप्तता से इनकार नहीं किया जा सकता। ये सारे बैंकों के पैसे आम आदमी के थे जिन्हें बाद में एनपीए और फिर बट्टे खाते में डाल कर जनता से वसूला जाएगा। यहां यह ध्यान देना भी उचित होगा कि साल 2014 में भारत में प्रति व्यक्ति कर्ज 44, 348 रुपये थे जो 2022 में बढ़ कर 1,01,048 रुपये हो चुका है। पूंजीवादी व्यवस्था के तहत देश और विदेश के निवेशक उसी बाजार या देश में निवेश करते हैं जहां उनके निवेश और निवेश से होने वाले लाभ अपेक्षाकृत ज्यादा बेहतर और सुरक्षित रहते हैं। लेकिन जिस देश में सरकार एक-दो पूंजीपति को ही सारे उद्योग सौंपने का लक्ष्य बना ले वहां अन्य निवेशक आने से कतराएंगे। दीर्घकाल में इस माहौल के कारण देश में पूंजी आना कम होगा जिससे आर्थिक वृद्धि और नौकरियों के सृजन में कमी आएगी। भारत के वर्तमान घोटाले और पिछले आठ सालों में होती रही अनियमितताएं और कमजोर तथा पक्षपात पूर्ण वित्तीय प्रशासन से विदेशी पूंजी निवेशकों का भरोसा भारत के बाजार पर कमजोर होगा जिसका नाकारात्मक प्रभाव बढ़ता रहेगा।

क्या विपक्षी राजनीतिक दल जिनमें सजप भी शामिल है, इस घोटाले के बारे में और उससे होने वाले अल्पकालीन और दीर्घकालीन नुकसानों के बारे में आम जनता में जागरूकता पैदा कर पाएंगे? क्या हम अपने लोगों को हिंदू-मुसलमान, मंदिर, पुलवामा जैसे भावनात्मक मुद्दों से अलग कर अपने और आने वाली पीढ़ियों के भविष्य को सुदृढ़ करने के लिए ठोस आर्थिक और राजनीतिक मसलों पर विचार करने के लिए प्रेरित कर पाएंगे? विमर्श का मुद्दा यह भी है कि सहचर-पूंजीवाद का विकल्प क्या हो और फौरी तौर पर ऐसे महाघोटालों पर अंकुश लगाने के लिए और उनकी पुनरावृत्ति को रोकने के लिए कैसी संस्थागत व्यवस्था बनाई जाए? क्या हम इन घोटालों में शामिल उद्योगपतियों, मंत्रियों, सेबी, आईटी, डीआरआई, आरबीआई जैसी संस्थाओं के उच्च अधिकारियों को कठघरें में ला पाएंगे जिन्होंने जानबूझ कर अपना कर्तव्य निर्वहन नहीं किया और देश का आर्थिक व निवेश-प्रतिष्ठा का भारी नुकसान करवाया?

ऐसा नहीं लगता है कि भारत के समाजशास्त्रियों ने भ्रष्टाचार की सामाजिक उत्पत्ति के बारे में कोई धारावाहिक अध्ययन किया है। भ्रष्टाचार को जड़ से समझने के लिए आधारभूत विकृतियों की तरफ ध्यान देना होगा। एक, प्रशासन के ढांचे की गलतियां, जवाबदेही की स्पष्ट और समयबद्ध प्रक्रिया न होना भारतीय शासन प्रणाली का मुख्य दोष है। दो, समाज में आय तथा जीवन स्तरों की गैरबराबरियां अत्यधिक हैं। जहां जितनी गैरबराबरियां रहेगीं वहां उतना भ्रष्टाचार अवश्य व्याप्त रहेगा। तीन, राष्ट्रीय चरित्र बिगड़ चुका है।

किशन पटनायक

सत्ता के सामने लाचार न्यायपालिका

अनिल सिन्हा

न्याय करने की देश की अदालतों की सीमाओं को लेकर हमें कोई संदेह नहीं रहा है। समय पर न्याय नहीं देने और लंबित मामलों की बढ़ी संख्या को लेकर लगातार चर्चा होती रही है। यह भी लोगों को मालूम है कि गरीब लोग न्याय के दरवाजे तक नहीं पहुंच पाते क्योंकि मुकदमा लड़ने का खर्च उठाना सामान्य लोगों के वश में नहीं है। अंग्रेजों की बनाई न्याय व्यवस्था में कानून भले ही आधुनिक थे, लेकिन उनका मुख्य उद्देश्य शासन के खिलाफ विद्रोह रोकना और अंग्रेजों को मदद करने वाले वर्ग का वर्चस्व बनाए रखना था। आजादी के बाद न्यायपालिका की बुनियादी बनावट को पूरी तरह बदला नहीं गया। संविधान ने हमें लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, संघवाद और समाजवाद के सिद्धांतों पर आधारित नया राष्ट्र बनाने का एक नक्शा तो दे रखा है, लेकिन उस ओर कभी एक कदम आगे बढ़ते हैं तो कभी दो कदम पीछे। संसद ने पुराने कानूनों तथा सविधान के प्रावधान में परिवर्तन किए और नए कानून जरूर बनाए, लेकिन एक समता आधारित समाज बनाने का संविधान निर्माताओं का सपना अधूरा ही रहा। आधे मन से ही सही, औपनिवेशिक राज्य तथा सामंती समाज व्यवस्था को बनाए रखने में मदद करने वाले कानूनों की जगह निश्चित तौर पर नए कानून बने हैं। छूआछूत निवारण, दलितों-आदिवासियों पर अत्याचार रोकने, दहेज पर प्रतिबंध लगाने, घरेलू हिंसा के लिए दंड देने तथा बच्चों को सुरक्षा देने वाले कानून ऐसे ही कानून हैं। इन सबसे ऊपर संविधान की ओर से मिले मौलिक अधिकार हैं जिसमें आजादी और बराबरी से जीने का अधिकार सबको है। चाहे आप किसी भी धर्म, नस्ल के हों। आजादी और बराबरी से जीने का अधिकार का ही नतीजा है कि सरकार किसी को अपने विचार रखने रोक नहीं सकती है। वह धर्म और नस्ल के आधार पर भेदभाव नहीं कर सकती है। इसी तरह कानून के सामने सब बराबर हैं यानी न्याय पाने का हक हर नागरिक का मौलिक अधिकार है। मौलिक अधिकारों में शोषण से मुक्त होने का अधिकार भी है। न्यायपालिका न केवल इन अधिकारों की व्याख्या का अधिकार रखती है, बल्कि इनके संरक्षण की जिम्मेदारी भी है।

संविधान ने न्यायपालिका की स्वतंत्रता सुनिश्चित की है और उसे विधायिका के करीब-करीब बराबर रखा है और संविधान की व्याख्या का अधिकार दिया है। इसी को ध्यान में रख कर सुप्रीम कोर्ट की संविधान पीठ ने 1973 में यह फैसला दिया कि संसद संविधान के मूल ढांचे को नहीं बदल सकती है। संविधान को सर्वोपरि मान कर कोर्ट ने इसकी बुनियादी ढांचे में उन्हीं तत्वों को रखती है जिस पर हमारा लोकतंत्र आधारित है – लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, संघवाद और मौलिक अधिकार। सवाल उठता है कि क्या भारतीय न्यायपालिका इन मानदंडों पर खरी उतरी है? क्या मौजूदा दौर में संविधान की रक्षा करने की जिम्मेदारी निभाने लायक ताकत वह रखती है?

दोनों सवालों के उत्तर नकारात्मक है। लेकिन अगर आपातका के छोटे-से अंतराल को छोड़ दें तो अतीत में न्यायपालिका ने भारतीय संविधान की व्याख्या और उसे लागू करने के काम को काफी जिम्मेदारी से निभाया है। संविधान के सर्वोपरि होने तथा इसके बुनियादी ढांचे के अपरिवर्तनीय होने का सिद्धांत ही इसके सबसे बड़ा उदाहरण है। यह सिद्धांत श्रीमती इंदिरा गांधी जैसी शक्तिशाली प्रधानमंत्री के दौर में अस्तित्व में आया। सुप्रीम कोर्ट अपनी स्वायत्तता बनाए

रखने में सफलता पाई थी। प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के चुनाव को रद्द करने के इलाहाबाद हाईकोर्ट के जस्टिस जगमोहन लाल सिन्हा के फौसला भी ऐसा ही ऐतिहासिक फैसला है। 2014 में नरेंद्र मोदी के प्रधानमंत्री बनने के बाद न्यायपालिका देश के बाकी संस्थाओं की तरह अपनी शक्ति खो बैठी। गरीबों का न्याय दिलाने या नागरिकों के मौलिक अधिकारों को छीनने की सरकार की कोशिशों पर लगाम लगाने की उसकी क्षमता अचानक कम हो गई। इस दौर में अपनी शक्तिहीनता की हीन भावना से पीड़ित सुप्रीम कोर्ट ने कई ऐसे फैसले दिए हैं जो न्यायपालिका के इतिहास में इस बात के उदाहरण बनेंगे कि न्यायपालिका अपनी जिम्मेदारी से किस तरह भाग गई। सरकार पर उसकी नहीं चली तो न्याय मांगने वाले ही प्रताड़ित होने लगे हैं। राज्य के दमन के खिलाफ न्याय मांगने ही दंडित होने लगे हैं। जनहित याचिकाओं के जरिए पीड़ितों को न्याय दिलाने की अनोखी अवधारणा इसी सुप्रीम कोर्ट ने विकसित की थी, वह भी कांग्रेस के निरंकुश दोर में। नरेंद्र मोदी के दौर में जनहित याचिका डालने वाले पर ही कार्रवाई होने लगी है। मानवाधिकार कार्यकर्ता तीस्ता शीतलवाड और गांधीवादी कार्यकर्ता हिमांशु कुमार इसके उदाहरण हैं। तीस्ता गुजरात दंगों के पीड़ितों की आवाज उठा रही थीं और हिमांसु बस्तर के आदिवासियों पर हो रहे जुल्म को रोकने में लगे थे। इसके खिलाफ कार्रवाई और जनहित याचिका लगाने वालों को अपना प्रचार करने का भूखा बताने जैसी टिप्पणियां न्यायपालिका के बदलते चरित्र को दर्शातें हैं।



मौजूदा सरकार के आने के ठीक पहले सत्ता के खिलाफ सुप्रीम कोर्ट के फैसलों ने एक ऐसा माहौल बना दिया था कि यथास्थिति के समर्थक यह बहस चलाने लगे थे कि क्या न्यायपालिका को कार्यपालिका के खिलाफ एक्टिविस्ट की भूमिका निभानी चाहिए? कोर्ट ने भ्रष्टाचार के मामलों में मंत्री तक की गिरफ्तारी कराई और महत्वपूर्ण सरकारी फौसलों को निरस्त किया। टू जी घोटाला और कोलया खादानों के आबंटन के मामले ऐसे ही हैं। इस दौर में उसने सरकारी एजेंसियों से ऐसे कई जांच कराए जो सत्ता पर नकेल रखने के काम आए। इसी दौर में कोर्ट ने सीबीआई तथा सीबीसी जैसी सरकारी एजेंसियों की स्वायत्तता सुनिश्चित करने वाले फैसले दिए। इन एजेंसियों को उनकी विफलता पर फटकार लगाई और उन्हें बेहतर जाच के लिए मजबूर किया। लेकिन मोदी सरकार के कार्यकाल में सुप्रीम कोर्ट ने कार्यपालिका के सामने घुटने टेक दिए। इसके एक नहीं कई उदाहरण हैं। सरकार की मनमानी तथा भ्रष्टाचार के मामलों में तो वह इतना लाचार दिखाई देता है जिसकी कल्पना संवंधित-निर्माताओं ने सपने में भी नही की होंगी। रफाल खरीद से लेकर पेगासस के मालमों में सुप्रीम कोर्ट ने ऐसे रवैया अपनाया जो न्यायपालिका के इतिहास में अदालतों की बेबसी के रूप में याद किया जाएगा। पारदर्शिता के सिद्धांतों को ताक पर रख कर उसने सरकार से सीलवद लिफाफों में जानकारी लेने की परपरा शुरू की ताकि मंत्रियों और अधिकारियों की कारगुजारियों को जनता क सामने से रोका जाए। देश की सर्वोच्च अदालत संविधान की रक्षा में किस तरह विफल रही है यह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, संघवाद, अल्पसंख्यक तथा कमजोर वर्ग पर अत्याचार और नफरत की भाषा के उपयोग जैसे मामलों में देश सकते हैं। केरल के पत्रकार कप्पन को अपने खिलाफ कोई सबूत नहीं होने पर भी महीनों तक जेल में रहना पड़ा। सरकार के खिलाफ आवाज उठाने वाले पत्रकारों तथा सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओं की उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में क्या हालत है, यह कोई भी देख सकता है। ऐसे मामलो में कितनी

मजबूत हस्तक्षेप से सुप्रीम कोर्ट बचने लगा है।

संघवाद पर हमलों के मामलों में भी उसकी हालत यही है। जम्मु-कश्मीर में धारा 370 को खत्म करने का मामला हो या महाराष्ट्र में महाविकास आघाड़ी सरकार गिराने का मामला हो, सुप्रीम कोर्ट मामले को टालने में ही विश्वास करने लगा है। केंद्र सरकार के खिलाफ कुछ करने से वह बचता है। सबने खुली आंखों से देखा कि किस तरह महाराष्ट्र के विधायक सूरत, गुवाहाटी और गोवा के पंचसितारा होटलों में घूम रहे थे। लेकिन इसे रोकने के लिए विरोधी पक्ष कोर्ट में गया तो उसे उसने टाल दिया, एक अवैध सरकार बनने दी। विरोधी पार्टियों की सरकार वाले राज्यों में गवर्नर भाजपा के कार्यकर्ताओं जैसा व्यवहार कर रहे हैं, लेकिन सुप्रीम कोर्ट चुप बैठा रहा।

सबसे बुरा हाल तो धर्मनिरपेक्षता की धज्जियां उड़ाई जा रही हैं, लेकिन सुप्रीम कोर्ट इसके विरोध में हस्तक्षेप करने के बदले सहयोग करता नजर आ रहा है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण रामजन्मभूमि विवाद में उसका फैसला। उसका भाजपा के एजेंडे के अनुरूप फैसला आया और बाबरी मस्जिद गिराने वालों को सजा देने के बदले उन्हें मंदिर बनाने का अधिकार दिया। क्या यह धर्मनिरपेक्ष देश का एक प्रधानमंत्री किसी मंदिर का शिलान्यास करेगा और पूजा पर बैठ सकता है वह भी ऐसी जगह जो दो सांप्रदायों के बीच विवाद का विषय बन गई हो?

रामजन्म भूमि विवाद के फैसले में यह साफ कर दिया गया था कि 1974 के समय धर्मस्थलों की यथास्थिति के खिलाफ कोई सुनवाई नहीं होगी। लेकिन सुप्रीम कोर्ट ने वाराणसी के ज्ञानवापी मस्जिद के मामले को सुनवाई के लिए खोल दिया है। यह फैसला भी आरएसएस को अपना एजेंडा आगे बढ़ाने की छूट देने वाला है।

हेट-स्पीच, वह भी चुनाव के दौरान, के मामले में तो कोर्ट का रवैया और भी अचरज भरा है। नूपुर शर्मा के मामले की सुनवाई के दौरान लग रहा था कि सुप्रीम कोर्ट कोई सख्त कार्रवाई करेगा। लेकिन फैसला आया तो शर्मा को हर किस्म की राहत दे दी गई। ऐसा कोर्ट ने कई बार किया है।

सरकार के खिलाफ फैसला देने में सुप्रीम कोर्ट किस तरह बचती है, इसका नमूना हाल में नोटबंदी पर आया फैसला है। अगर जस्टिस बी नागरतना ने अपना विरोध मत नहीं रखा होता तो लोग समझ भी नहीं पाते कि सरकार ने किस तरह आरबीआई जैसी संस्था की स्वायत्तता के साथ खिलवाड़ किया और नोटबंदी के फैसले पर उसके मुहर लगवा ली। बाकी जजों ने तो अपने हाथ खड़े कर लिये और ऐसे-ऐसे तर्क दिए जो कोर्ट की दयनीयता को ही परदर्शित कर सकते हैं। उन्होंने यहां तक कह दिया कि इस विषय के विशेषज्ञ नहीं हैं और नोटबंदी की वजह से हुए नुकसानों के आकलन का काम उनके अधिकार क्षेत्र से बाहर है। सरकार के फैसलों को लेकर इस तरह का रवैया रखने पर कोर्ट संविधान की रक्षा की जिम्मेदारी कैसे निभा सकता है?

सुप्रीम कोर्ट के इसी दयनीयता का परिणाम है कि कालेजियम की सिफारिशों को सरकार लगातार ठुकरा रही है और इस व्यवस्था को समाप्त करने पर आमादा है। यही नहीं, उपराष्ट्रपति जगदीप धनखड़ संविधान के बुनियादी ढांचे को नहीं छेड़ने के सुप्रीम कोर्ट के फैसले को चुनौती दे रहे हैं और संसद को सुप्रीम बता रहे हैं।

क्या सुप्रीम कोर्ट की दयनीयता की वजह इस वजह से है कि जज अवकाश पाने के बाद सरकारी फायदा लेना चाहते हैं, जैसा जस्टिस रंजन गोगोई के राज्यसभा जाने या जस्टिस सेतुरमन के गवर्नर बन जाने से देखने में आया? कई लोग मानवाधिकार आयोग का अध्यक्ष होने का लालच भी रखते होंगे। लेकिन मामला इतना सीधा नहीं है। यह पूंजीवाद के नए दौर की न्यायव्यवस्था है जो नागरिकों को कम से कम अधिकार देने में यकीन करती है और सत्ता की निरंकुशता का समर्थन करती है। कारपोरेट मामलों में इसके फैसले इसके इस रूझान की तसदीक करते हैं। जनता के अधिकारों की बहाली का संघर्ष नए दौर में हैं जिसमें लोगों को न्यायपालिका के इस रवैये के विरोध में खड़ा होना पड़ेगा।

विपक्षी एकता की जरूरत और असलियत

अतुल कुमार

देश भर में भाजपा और केंद्र व राज्यों की उसकी सरकार का विरोध लगातार बढ़ रहा है भले ही इसकी जितनी चर्चा होना चाहिए या इसका जितना प्रचार होना चाहिए, नहीं हो रहा है। फिर तमाम जगहों में अलग-अलग होने वाले विरोध की एक कड़ी नहीं बन पा रही हो जिससे उसका व्यापक असर हो।

केंद्र में नरेंद्र मोदी की अगुआई में भाजपा या राजग की सरकार पहली ऐसी गैर कांग्रेसी सरकार है जिसने लगातार दो कार्यकाल पूरा गिया। उसके कामकाज, संवैधानिक मूल्यों का उल्लंघन, शासन-तंत्र की कमजोरी, जनविरोधी नीतियां आदि पहले की सरकारों की तरह ही हैं। मोदी सरकार को ऐसी पहली सरकार के रूप में याद किया जाएगा जो संविधान की पूरी आधार संरचना और आइडिया आफ इंडिया को बदल कर अपने मकसद के अनुरूप करने की दिशा में बढ़ रही है। भाजपा नीत केंद्र सरकार को इस काम में जन बल, नीतिगत समर्थन और नैतिक बल इसके पितृ संगठन आरएसएस से मिलता रहा है जिसका गठन स्वतंत्रता आंदोलन और उसके मूल्यों की मुखालफत के लिए ही हुआ था और वह अपनी इस विचारधारा को अनवरत धार देता रहा है। इसी विचारधारा को स्थापित करने के लिए भाजपा व मोदी सरकार आजादी के जंग के हर नामोंनिशान को मिटाने, जम्हूरियत को जड़ से खत्म करने, संविधान की हर पंक्ति को उलट देने, अपने राजनीतिक विरोधियों को हिटलरी अंदाज में कुचलने और देश के सांप्रदायिक भाईचारे को दुश्मनी में बदलने के लिए गुरु गोलवलकर के 'बंच आफ थाट' तथा 'दी एंड आवर नेशनहुड डिफाइन' को नंगेपन के साथ अमलीजामा पहनाने पर आमादा है।

आधी सदी तक लगभर पूरे देश पर शासन करने वाली कांग्रेस की नीतियां विभिन्न मुद्दों, खासकर आर्थिक मुद्दों पर मौजूदा समय में भी साफ-साफ नहीं है। कांग्रेस और उसकी सरकारों की ओर से अनेक ऐसे कदम उठाए गए जिनका परिणाम घातक हुआ। उसने आजादी की लड़ाई के सैकड़ों-हजारों नायकों, योद्धाओं, बलिदानियों को भुला कर एक संकुचित संकीर्ण विचार को स्थापित किया, वह यह कि जवाहर लाल नेहरू ही एक ऐसे थे जिन्होंने जो भी कुछ किया वह देश के लिए किया और देश का अस्तित्व उन्हीं के कारण है। यह नकारा नहीं जा सकता कि उन्होंने देश के लिए काफी कुछ किया है। लेकिन और भी नायक थे जिन्होंने देश के लिए बहुत कुछ किया, जिन्हें नहीं भुलाया जा सकता। कुछ अप्रतिम बलिदानियों और योद्धाओं को राजनीतिक विरोध के कारण कालांतर में देशद्रोही तक कहा गया। मीडिया की ओर से भी 1947 से 1977 तक ऐसा माहौल बनाया मानो कि देश में लोकतंत्र, स्वतंत्रता के एकमात्र झंडाबरार नेहरू थे, अन्य कोई नहीं। विपक्ष की उपेक्षा हुई। कांग्रेसी राज में हुए जनविरोधी-पूंजीवादपरस्त कार्य, भ्रष्टाचार, मजदूरों, कामगारों, किसानों का शोषण, दलितों, आदिवासियों और महिलाओं पर जुल्म की एक लंबी फेहरिस्त है। जनविरोधी कार्यकलापों के परिणामस्वरूप 1990 के बाद वह राजनीतिक पटल पर कमजोर होती गई और उसकी जगह क्षेत्रीय., जाति आधारित, मुद्दा व नीति-सिद्धांत विहीन दलों ने लेना शुरू किया। ऐसे दलों की मानसिकता सत्ता को पारिवारिक बनाने, संपत्ति बनाने और अपना खेमा चला कर किसी भी तरह से शासक बने रहने की रही है। सो उनका भी धराशाई होना और भाजपा व आरएसएस को सत्ता के करीब पहुंचने का अवसर

मिलना स्वाभाविक था। यहां यह जिक्र कर देना जरूरी है कि आजादी के पहले से संघ परिवार अपनी शक्ति और संगठन को ऐन केन प्रकारेण मजबूत करते आ रहा था। दलों में गठबंधन की राजनीति शुरू होने के बाद कांग्रेस के नेतृत्व के गठबंधन की कमियों-खामियों के चलते भाजपा के नेतृत्व के गठबंधन के पक्ष में हवा तैयार हुई और 2014 के बाद तो वह लगातार सत्ता में है। उसके शासनकाल में देश की स्थिति विकट से विकट होती जा रही है। भाजपा और आरएसएस के हाथ से देश को बचाना बड़ी चुनौती है। देश की आजादी और लोकतंत्र, दोनों पर संकट है। अघोषित आपातकाल जैसी स्थिति बनती जा रही है।

आरएसएस के निर्देश पर चलने वाली भाजपा व उसकी सरकार लोकतांत्रिक विरोधी व तानाशाही रवैये को देखते हुए कांग्रेस, क्षेत्रीय पार्टियां, वामपथी पार्टियां समेत विभिन्न जन संगठन उनके खिलाफ खड़े होते दिखने लगे हैं। कांग्रेस की लाख कमियों-खामियों के बावजूद आज की स्थिति यह है कि उसका साथ लिए और व्यापक आंदोलन के बिना आरएसएस-भाजपा, मोदी सरकार राज में जम्हूरियत के खात्मे, पूंजीपतियों की बेशर्मी से तरफदारी, अंबानी-अदाणी के हाथों में मुल्क को सौंपने, सांप्रदायिकता का नंगा नाच कराने से मुक्ति नहीं मिल सकती। आधुनिक भारत की बहुआयामी अवधारणा को बचाए और देश की विविधता को संजोए रखने के लिए जरूरी है कि वर्चस्ववादी विचार को दूर ढकेला जाए और क्षरित हो रहे समावेदी संस्कृति को फिर से सशक्त किया जाए। यह काम क्षेत्रीय अस्मिता, आकांक्षा वाले समूहों को साथ लेकर किया जा सकता है।

यह जिक्र करना अति न होगा कि 1967 और 1977 के कांग्रेस विरोधी लहर को दौरान विपक्षी दलों के बीच एकता का सूत्र नैतिकता से बंधा था। तब सभी दलों का मुख्य मुद्दा कांग्रेस को सत्ता से बाहर करना था। विपक्षी दल अपने स्वार्थ को गौण रखते थे। लेकिन अब दूसरी स्थिति है। भाजपा विरोधी दलों ने अपना अहम और स्वार्थ को सर्वोपरि रखा है। गठबंधन की सोच में नैतिकता का कोई स्थान नहीं है। हाल यह है कि जिस दल के पास गिनती के सांसद हैं, उनके आला विपक्षी एकता की अगुआई करने का दंभ भर रहे हैं। ऐसे दल कब भाजपा का साथ दे देगें यह आशंका बनी रहती है। भाजपा विरोध कब कितना होगा, इस बारे में अनिश्चयता है।

विपक्षी दलों में कांग्रेस बड़ा दल है। भाजपा या उसकी अगुआई के गठबंधन के खिलाफ उसकी नीति और रणनीति महत्वपूर्ण है। वह विफल होती है तो वह अकेले ही प्रभावित नहीं होगी, बल्कि भाजपा व आरएसएस विरोधी क्षेत्रीय पार्टियां भी प्रभावित होगी। भारत यात्रा से कांग्रेस की स्थिति मजबूत हुई है। लेकिन अपनी स्थिति को मजबूत होते देख उसने अकेला चलने का जो संकेत दिया है, वह उसका साथ देने वाले दलों को ठेस पहुंचा सकता है। विपक्षी दलों की एकता पर इसका असर पड़ सकता है। आरएसएस-भाजपा विरोधी कोई भी दल उसके खिलाफ एकजुट होने के दायित्व से पीछे नहीं हट सकता। विपक्षी दलों में जो सबसे बड़ा दल है, उसका दायित्व सबसे ज्यादा है। कांग्रेस का सुधार और नवीकरण देश के हित में है। कांग्रेस आरएसएस-भाजपा के गठबंधन के खिलाफ गठबंधन का नेतृत्व कर सकती है। क्षेत्रीय दलों को यह समझने की जरूरत है। कांग्रेस अपने अतीत के व्यामोह से निकल कर और आगे बढ़ कर क्षेत्रीय दलों से बातचीत करे। देश और लोकतंत्र के लिए आरएसएस-भाजपा के साथ आर-पार की लड़ाई है।

अभी तो बहुत सारे दलों को इसलिए क्षेत्रीय कहना पड़ता है, क्योंकि इन दलों का विस्तार रुक गया है और वे न क्षेत्रीय दल हैं, न राष्ट्रीय दल बन पा रहे हैं। वे सिर्फ छोटे दल हैं। क्षेत्रीय दल भी अपने राज्य या क्षेत्र का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं कर पा रहे हैं।

किशन पटनायक

समाजवादी जन परिषद

राष्ट्रीय सम्मेलन
पारित संशोधित सामाजिक प्रस्ताव

केंद्र में लगातार दूसरी बार भाजपा के नेतृत्व में राजग के सत्ता में आने के कुछ महीने बाद कोरोना काल के दौरान जो स्थिति-परिस्थिति बनाई गई, उसमें आम लोगों की समस्याएं ज्यादा से ज्यादा गहराईं। कोरोना ने निपटने के लिए केंद्र सरकार की ओर से जो भी तमाम कदम उठाए गएं, वे हर दृष्टि से घातक और मारक साबित हुए। उसी समय 'सोशल डिस्टेसिंग' (सामाजिक दूरी) का अभियान चलाया गया। होना चाहिए था फिजिकल डिस्टिसिंग (भौतिक दूरी)। ऐसा माहौल बना कि लोग एक-दूसरे को 'शत्रु' की नजर से देखने और समझने लगे। लोगों में आपाधापी, दूरी, संदेह, भेदभाव, विद्वेष, घृणा, असहिष्णुता, आक्रमकता, हिंसा की भावना फैलाई गई और इसके अनुकूल प्रवृति पनपाई गई। सरकार और शासक दल की ओर से कोरोना काल को अपने हित में एक अच्छा 'अवसर' माना गया और ऐसे तरह-तरह उपाय किए गए जिससे पूंजीवाद, बाजारवाद, निजीकरण, उपक्रमीकरण, भ्रष्टाचार, सत्ता आधारित व पोषित तानाशाही को बल मिला, तो दूसरी तरफ लोकतांत्रिक ढांचे पर प्रहार पर प्रहार किया गया। लोकतांत्रिक मान्यताओं व धारणाओं को नकारने और उनके प्रतिकूल सोच व कर्म की मानसिकता को प्रोत्साहित किया गया। किसी भी आफत-विपद का मुकाबला करने के लिए समाज में आपसी एकता, भाईचारा, सरकार और प्रशासन की उदारता व सहयोग बड़ा संबल होता है। इसी संबल को कमजोर किया गया। जातीयता, सांप्रदायिकता, विभिन्न सामाजिक विषमता के आधार को मजबूत किया गया।

कोरोना काल गुजर तो गया लेकिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'लाइन' के मद्देनजर केंद्र सरकार और भाजपा की ओर से उसके तमाम मकसदों को पूरा करने के लिए जिन रणनीतियों को फलीभूत किया गया, वह अब दिख रहा है।

आदिवासियों, दलितों, अति पिछड़ों, पिछड़ों, अल्पसंख्यकों के बीच दूरी बढ़ाई जा रही है। इतना ही नहीं, इन समुदायों के भीतर भी तनाव बढ़ाया जा रहा है। आदिवासियों में विभिन्न समूहों के बीच की एकता को कमजोर किया जा रहा है। इसी प्रकार दलितों, अति पिछड़ों और पिछड़ों के भीतर विभिन्न जातियों के बीच दूरी व तनाव पनपा कर उनकी एकता क्षीण की जा रही है। अल्पसंख्यकों यानी मुस्लिमों में जातपात उभार कर मनमुटाव बढ़ाया जा रहा है। हिंदुत्व के नाम पर ब्राह्मणवाद को मजबूत किया जा रहा है। जातिव्यवस्था या जातीयता के पक्ष में वातावरण तैयार कर उसे पुरजोर उभारने की सफल कोशिश हो रही है। धार्मिक उन्माद और कट्टरता के बढ़ने का मतलब ही है जातीयता का मजबूत होना। सवर्णों और गैरसवर्णों के बीच हर स्तर पर टकराव का रास्ता बनाया जा रहा है। उनका ध्रुवीकरण हो रहा है। सवर्णों को संगठित करने और गैरसवर्णों के संगठनों को कमजोर करने की मुहिम बड़ी चालाकी से चलाई जा रही है। सवर्णों के बीच जो थोड़े लोग उदार हैं और गैरसवर्णों के साथ हैं, वे पीछे हटने के लिए मजबूर हो रहे हैं। हिंदुत्ववादी ताकतों ने ऐसे सवर्णों में भ्रम भी फैलाया है।

वोट व सत्तोन्मुख राजनीति से जातीयता और सांप्रदायिकता को लगातार हवा मिल रही है। इसमें हर बड़ी पार्टी शामिल हैं लेकिन भाजपा तो अव्वल है। इस बाबत वह खुल्लमखुल्ला राजनीति कर रही है। कुप्रचार और भ्रम के बल पर आदिवासियों, दलितों, अति पिछड़ों, पिछड़ों और महिलाओं को अपनी ओर कुछ हद तक आकर्षित करने के षड्यंत्र में उसे कामयाबी मिली है। यह इंकार नहीं किया जा सकता कि वोट और

सत्तोन्मुख राजनीति के चक्कर में हिंदुत्ववादी ताकतों का विरोध करने वाली पार्टियों ने भी जातिवाद को बढ़ाया है जबकि उन्हें इससे बचना चाहिए था।

आदिवासियों, दलितों, अति पिछड़ों पिछड़ों, अल्पसंख्यकों में सबसे ज्यादा गरीबी, बेरोजगारी बढ़ी है। बड़ी संख्या में रोजगार वाले लोग बेरोजगार हुए है। साधारण लोगों की आमदनी कम हो रही है और दूसरी तरफ बेतहाशा मंहगाई बढ़ रही है। ऊपर से सरकारी व गैर सरकारी क्षेत्रों में संगठित भ्रष्टाचार की लगातार बढ़ोतरी हुई है। साथारण लोगों का जीवन दुभर है। ऐसे हालात में समाज को बांट और आपस में लड़ा वोट और सत्तोन्मुख राजनीति करने वाली पार्टियों ने साधारण लोगों को अपनी समस्या (गरीबी, बेरोजगारी) के समाधान के लिए अपनी-अपनी जाति और संप्रदाय के अगुवा लोगों के पीछे हो लेने के लिए बाध्य किया है। पार्टियों में नेता पार्टी के नाम पर उतने नहीं जाने जा रहे हैं जितने कि जाति और सांप्रदाय के नाम पर जाने और माने जा रहे हैं। यों कहें कि लोगबाग को जातीयता और सांप्रदायिकता की ओर ढकेला जा रहा है। सरकारी प्रतिष्ठानों में आरक्षण के प्रावधान को पूरा करने में धोखाघड़ी और गैरसरकारी प्रतिष्ठानों में आरक्षण के प्रावधान को लागू नहीं होने की वजह से आदिवासी और दलित युवजन निराश और आक्रोशित हो रहे हैं।

ईसाई दलितों व आदिवासियों पर हमले बढ़े हैं। केंद्र और राज्यों की भाजपा की सरकारें उनके नेताओं-कार्यकर्ताओं पर झूठे मुकदमें में फंसा उन्हें जेलों में डाल रही हैं। जेलों में उनकी संख्या बढ़ती चली जा रही है। उन्हें नक्सली और देशद्रोही करार किया जा रहा है।

चिंताजनक स्थिति यह भी बन रही है कि डा. भीमराव अंबेडकर के अनुयायियों के कुछ संगठनों द्वारा कट्टरता की रणनीति अख्तियार की गई है और गांधी-विरोध तेज किया गया है व गांधी की छवि दलित-विरोधी बनाई जा रही है। अंबेडकर-गांधी के बीच टकराव का प्रचार किया जा रहा है जबकि अंबेडकर और गांधी के बीच विरोध कम होने लगा था और वे एक-दूसरे के करीब होने लगे थे। बाबा साहेब ने जिन मुद्दों और समस्याओं को लेकर संघर्ष किया, गांधी जी ने उन मुद्दों पर गौर किया और समस्याओं के समाधान पर जोर दिया। दोनों व्यक्तित्वों की यही खूबी थी कि उन्होंने जातिव्यस्था को लेकर बैचारिक विरोध को पाटा और जातीयता व सांप्रदयिकता का नाश करने बाबत एक-दूसरे के करीब हुए। गांधी-विरोध व उसके अनुकूल क्रियाकलापों से आरएसएस और भाजपा की मंशा पूरी हो रही है। उसकी मंशा गांधी विरोध को तेज करने और गांधी की छवि को बिगाड़ने की है। कुछ अंबेडकरवादी संगठनों व बाबा साहेब के अनुयायियों द्वारा गांधी-विरोध और उनका कट्टर होना दुखद है। उनकी कट्टरता का मतलब बाबा साहेब के व्यक्तित्व को भी छोटा करना है।

अंबेडकरवदी संगठनों की ओर से गांधी-विरोध बाबत यह कहा जाता है कि गांधी जब वर्णव्यवस्था के पक्षधर हैं तो वे जातिव्यवस्था के भी पक्षधर हैं। उन्होंने कभी भी वर्ण व्यवस्था का विरोध नहीं किया। वे अपने को हिंदू कहते थे। हिंदू कहने का मतलब है वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था को स्वीकार करना। दलित युवजन इस तरह के तर्क से भ्रमित हुए हैं और गांधी-विरोध की दिशा में सोचने लगे हैं। इन संगठनों की ओर से यह भी तर्क पेश किया जाता है कि मनुवादी या ब्राह्मणवादी व्यवस्था के लिए सबसे ज्यादा सवर्ण ही जिम्मेदार है। गरीब और लाचार सवर्ण अपने को सर्वश्रेष्ठ होने का दावा करता है और वही ऊंच-नीच होने का मानदंड तय करता है। इस प्रकार के प्रचार ने दलित युवजनों में सवर्ण विरोध को पनपाया है। दलितों को यह समझने की जरूरत है कि गांधी ने कभी भी किसी दूसरे धर्म को हिंदू धर्म से कमतर नहीं माना था। दलित संगठनों की ओर से जाति विनाश बावत जितनी सार्थक पहल की जानी चाहिए या कारगर कदम उठाया जाना चाहिए. ऐसा नहीं हो रहा है।

समाज में जाति के आधार पर ऊंच-नीच होने की मान्यता को खत्म करने की पहल किए बिना या इस दिशा में बदलाव किए बिना दलितों के मन में सवर्णों के प्रति अविश्वास कम नहीं होगा। इसके लिए सवर्णों को ही आगे आना होगा। उन्हें ही उन सारे प्रावधानों, कर्मकांडी विधियों को त्यागना होगा जिनसे मनुवाद, ब्राह्मणवाद, वर्णव्यवस्था, जातिव्यवस्था मजबूत होती है। गैरसवर्ण, खासकर दलित खुद अपने को ऐसे प्रावधानों व कर्मकांडी विधान-विधियों से अलग नहीं कर पा रहे है और ना ही जातिवादी मानसिकता से ऊपर उठ पा रहे हैं।

यह एक सच्चाई है कि जातिव्यवस्था को बनाए रखने वाले तमाम विधिविधान सभी जातियों में हैं। ऐसे विधिविधानों से सवर्णों को सम्मान का सुख प्राप्त होता है जबकि गैरसवर्णों को नीच बने रहने की बाध्यता है, फिर भी वे इसे नहीं त्याग पा रहे हैं। गौरतलब है कि कई ऐसी परंपरा व विधिविधान हैं जिनमें पर्यावरण की रक्षा करने का संदेश है। उन्हें खारिज नहीं किया जा सकता।

यहां यह जिक्र करना जरूरी है कि गांधी और अंबेडकर पर डा. लोहिया के सच्चे अनुयायी किशन पटनायक के कई लेख से अंबेडकर और गांधी की करीबी को समझा जा सकता है। बाबा साहेब और गांधी ने सामाजिक सुधार या परिवर्तन पर ज्यादा से ज्यादा जोर दिया था और राजनीतिक परिवर्तन के पहले सामाजिक परिवर्तन को आवश्यक माना था।

आदिवासी, दलित, अति पिछड़े, पिछड़े संगठित हो रहे हैं और उनके तमाम संगठन हैं और अपनी समस्याओं को लेकर संघर्ष कर रहे हैं। लेकिन चिंता का विषय यह है कि उनके द्वारा आपस में जातीयता और विषमता को खत्म करने के लिए जितना पहल कर कर आगे आने की जरूरत है, उतना नहीं हुआ। उनके बीच जातीयता और विषमता बरकरार है। इससे अप्रत्यक्ष तौर पर जातिव्यवस्था या जातीयता को बनाए रखने वालों को बल मिल रहा है। वे संगठित हो रहे और उनका जाति के आधार पर अपना-अपना संगठन खड़ा हो रहा है। उन्हें या उनके संगठन को आक्रामक होने और हिंसा करने का मौका मिल रहा है। समाज में लोगों में एक-दूसरे से जुड़ने की बजाय टूटने की स्थिति पैदा हुई है।

कोई भी सच्चा लोकतांत्रिक और समतावादी व्यक्ति व समूह होने की कसौटी यह भी है कि वह व्यक्ति या समूह सोच व कर्म के स्तर पर कितना मनु संस्कृति आधारित हिंदुत्व या ब्राह्मणवाद का विरोधी है। मनु संस्कृति में लोकतंत्र और समता के लिए कोई जगह नहीं होती। समाज के हर जाति और समूह जब तक पूरी तरह से मनु संस्कृति के खिलाफ खड़ा नहीं होगा, तब तक उस पर कारगर प्रहार नहीं होगा। सवर्णों और अवर्णों के बीच की दूरी कम होने और समता के लिए रचनात्मक पहल से मनुवादी संस्कृति कमजोर होगी। मनुवादी संस्कृति से उपजी जातीयता की वजह से समाज में ऊंच-नीच की भावना है। मनुवाद संस्कृति के विकल्प में लोकतांत्रिक व समतावादी संस्कृति के निर्माण की जरूरत है।

डा. लोहिया जातिव्यवस्था संबंधित गांधी और अंबेडकर की भावना व उनके सोच को जातिव्यवस्था के विनाश की दिशा में उपयोग करने में आगे आए थे। उन्होंने अंबेडकर से संवाद स्थापित किया। वे बाबा साहेब को साथ लेकर समाज और देश में लोकतांत्रिक, समतावादी बदलाव



चाहते थे। लेकिन बाबा साहेब का 1956 में निधन हो गया और डा. लोहिया का सपना पूरा न हो सका। लेकिन डा. लोहिया रुके नहीं, जाति तोड़ो का नारा दिया और उसके अनुरूप आंदोलनात्म कार्यक्रम तय किया। मौजूदा समय में इसकी ज्यादा जरूरत पड़ गई है।

सबसे ज्यादा महिलाओं की समस्याएं बढ़ी हैं। जातीयता-सांप्रदायिकता की वजह से वे ज्यादा प्रताड़ित हो ही रही है, घरेलु अत्याचार व हिंसा की घटनाएं लगातार बढ़ी हैं। घर और बाहर, दोनों जगहों में उनकी असुरक्षा बढ़ी है। आदिवासी और दलित महिलाएं ज्यादा प्रताड़ित और असुरक्षित हैं। शिक्षा और रोगगार के क्षेत्र में महिलाएं जरूर आगे आई हैं लेकिन उनकी इतनी तादाद नहीं है कि संतोष व्यक्त किया जा सकता है। मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में महिलाओ का पुरुषों की बराबरी में आना आसान नहीं है। संविधान और कानून में तमाम प्रावधानों को दरकिनार कर रखा गया है। कुछ कानूनों को बाध्यता में केवल दिखावा के लिए लागू भर किया गया है। धर्म, परंपरा, संस्कृति के नाम पर वही सब बातें लागू हैं, जो महिलाओं को शासित व शोषित होने के लिए मजबूर करती हैं। यहां आधुनिकता काम नहीं आती। आधुनिकता को बाजार के खांचे में डाल कर महिलाओं का इश्तहार की तरह इस्तेमाल किया जा रहा है। आदिवासियों और दलितों के घरों में महिलाओं की जो भी आजादी, जिसे लोकतंत्री व समतामूलक मानी जा सकती है, थी लोप हो रही है।

लोकसभा और विधानसभाओं में महिलाओं की संख्या नहीं बढ़ रही है। राजनैतिक पार्टियां पहले की तरह उनकी उपेक्षा कर रही है। देश भर में पंचायतों और निकायों में महिलाओं को पचास फीसदी आरक्षण देने के प्रावधान को लागू करने में कोई समस्या नहीं हो सकती, अब यह साफ हो गया है। लेकिन ऐसा नहीं किया जा रहा है। श्रम कानूनों में महिलाओं के हित के कानूनों को खत्म कर दिया गया है। असंगठित क्षेत्र में महिला मजदूरों की समस्याओं का कोई अंत ही नहीं है।

आदिवासियों, दलितों, अति पिछड़ों, पिछड़ों के बीच आरएसएस व भाजपा की असलियत को उजागर करने के लिए प्रचार, बैठक, सभा, शिविर के आयोजन की जरूरत है। इन जमातों की संस्कृति की रक्षा के लिए प्रचार और विभिन्न कार्यक्रम आयोजित हों। जातीयता और सांप्रदायिकता के विरोध में प्रचार, बैठक, सभा, शिविर का आयोजन हो। वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था को बरकरार रखने और मजबूत बनाने वाले विधिविधानों, ऊंच-नीच की धारणाओं-मान्यताओं को खत्म करने के लिए कारगर उपाय करने की जरूरत है। जातिव्यवस्था को खत्म करने के लिए रोटी-बेटी का संबंध करने वालों की मदद में आगे आने, सम्मान और सहूलियत देने के पक्ष में माहौल बनाने की आवश्यकता है। जाति तोड़ो के मद्देनजर लोकतांत्रिक व समतावादी विचार वाले व्यक्तियों को करीब लाने की जरूरत है। विभिन्न पर्वों, त्योहारों, शादी-व्याह जैसे मौकों पर अवैज्ञानिक विधिविधानों, कर्मकांडों, पाखंडों, कार्यकलापों का विरोध जरूरी। आदिवासी और दलित युवजनों को 'मित्र' बनाने अभियान चलना चाहिए। जनगणना में जाति का उल्लेख का समर्थन किया जाना चाहिए। अंबेडकरऔर गांधी के खिलाफ प्रचार के विरोध में आगे आना आवश्यक है। अंबेडकर और गांधी के करीब होने के तथ्यों को सामने लाने के लिए प्रचार, गोष्ठी, सभा, शिविर का आयोजन हो। आदिवासियों, दलितों, महिलाओं व कमजोर वर्ग के लोगों की शिक्षा, चिकित्सा और रोजगार की मांग को लेकर कार्यक्रम आयोजित हो। शराबबंदी या नशाबंदी के पक्ष में माहौल तैयार किया जाना चाहिए। महिलाओं को विभिन्न क्षेत्रों में हिस्सेदारी सुनिश्चित करने की मांग को लेकर कार्यक्रम आयोजित करने की जरूरत है। महिलाओं के घरेलू उत्पीड़न या घरेलू हिंसा, संपत्ति से बेदखल करने के मामलों का जोरदार विरोध करने बावत कार्यक्रम आयोजित की जरूरत है। ये मामले व्यैक्तिक या पारिवारिक की बजाय सामाजिक-राजनैतिक हैं। सामाजिक परिवर्तन आधारित राजनीति पर अमल जरूरी है।

संवादिक

भारतीय समाज परिवर्तन के संबंध में लोहिया के विचार

रमेश चंद्र सिंह

(स्व. रमेश चंद्र सिंह समाजवादी चिंतक, चौरंगी वार्ता के संपादक थे)

भारतीय नवजागरण के विचारकों की परंपरा में ही डा. राममनोहर लोहिया को देखते हैं। पर नवजागरण का चिंतन एक नहीं, कई धाराओं में प्रवाहित हुआ। लोहिया उस धारा के अंतर्गत आते हैं जिसके पुरस्कर्ता महर्षि दयानंद सरस्वती, ईश्वरचंद्र विद्यासागर और स्वामी विवेकानंद थे। इनकी तरह ही लोहिया ने गहराई से महसूस किया था कि हिंदुस्तान की गुलामी और पराभव के भूत में भारतीय समाज की अपनी कमजोरियां हैं। ये कमजोरियां जब तक दूर नहीं होतीं तब तक देश को स्वस्थ, सबल और समृद्ध नहीं बनाया जा सकता। भारतीय समाज का आधुनिकीकरण जरूरी है, पर आधुनिकीकरण का मतलब यह नहीं कि उसे पाश्चात्य समाज का पिछलग्गू बना दिया जाए। यह कहना इसलिए जरूरी है हमारे यहां राजा राममोहन राय और केशवचंद्र सेन से होते हुए नेहरू तक एक दूसरा सोच यह भी चलता रहा कि देश को तभी आधुनिक बनाया जा सकता है जब भारतीय समाज को पश्चिम के सांचे में ढाल दिया जाए। मजे की बात यह है कि हिंदुस्तान के मार्क्सवादियों की एक बड़ी जमात भी, मार्क्स के प्रति अर्थभक्ति रखने के कारण, पश्चिमीकरण को ही आधुनिकता मान बैठी है। भारत के संबंध में मार्क्स का कहना था कि अंग्रेजों के आगमन से ही इस देश में हजारों वर्षों के बाद पहली सामाजिक क्रांति कहना उचित होगा। भारतीय समाज की जड़ता तभी टूटी, जब इस देश में ब्रिटिश शासन स्थापित हुआ। इस तरह मार्क्स ने अंग्रेजों के शासन को मुक्त कंठ से सराहा। बाद में चल कर उन्होंने अपने मत को थोड़ा जरूर बदला – पर उनकी इतिहास चिंतन का निष्कर्ष यही रहा कि भारत जैसे पिछड़े हुए देशों को अंततः यूरोपीय समाज के सांचे में ही ढलना होगा। इससे मार्क्सवादियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिस रास्ते से यूरोपीय देशों का विकास हुआ है उस रास्ते पर चलने से ही भारतीय समाज आगे बढ़ सकेगा। स्पष्ट ही लोहिया की सामाजिक सोच न तो राममोहन राय की परंपरा में आता है, न मार्क्सवादियों के। जाति, भाषा, यह नर-नारी रिश्तों के बारे में लोहिया का जो सोच उनके परवर्ती राजनीतिक जीवन में विकसित हुआ उसकी जड़ें, जैसा हम कह आए हैं, भारतीय नवजागरण की उस धारा में है, जिसका प्रतिनिधित्व महर्षि दयानंद सरस्वती, ईश्वरचंद्र विद्यासागर और स्वामी विवेकानंद करते हैं। इस धारा कि विरासत ही, गांधी के माध्यम से लोहिया को मिली थी।



स्व. रमेश चंद्र सिंह

पर इस विरासत को लोहिया ने जस का तस स्वीकार नहीं

किया। उन्होंने केवल इसको इहलौकिक (सेक्यूलर) आधार प्रदान किया, बल्कि समादवाद और लोकतंत्र के आदर्शों के साथ इसका सामंजस्य स्थापित करते हुए इसे अपने राजनीतिक कर्म का अंग भी बनाया। नवजागरण की सामाजिक चेतना किस तरह लोहिया के इतिहास–चिंतन के साथ जुड़ कर एक व्यापक सिद्धांत का रूप लेती है, इस पर थोड़ा रुक कर, विचार कर लेना हमें जरूरी लगता है।

लोहिया ने दुनिया की विभिन्न सभ्यताओं के उत्थान-पतन को देख कर, इतिहास की गति का अध्ययन करने के बाद, तीन निष्कर्ष निकाले थे। उनका पहला निष्कर्ष यह है कि दुनिया की हर सभ्यता या समाज वर्ग और वर्ण के बीच पेंग मारता रहता है। कोई भी समाज ऐसा नहीं होता कि जो अपने विकास क्रम में कुछ विशेषताएं अर्जित नहीं कर लेता। पर अपने इन विशिष्ट गुणों को विकसित करते हुए जब वह समाज संगठन और तकनीक की दृष्टि से अधिकतम कौशल (मैक्सीमम इपीसीयंसी) की दिशा में बढ़ता है तब उस समाज के लोगों के मन में अक्सर ही यह भ्रम पैदा होता है कि उनका समाज पूर्ण कौशल की ओर या यों कहें सर्वांगीण विकास की दिशा में बढ़ रहा है। पर वास्तविकता यह होती है कि वह समाज एकांगी कौशल की ओर ही बढ़ता है। जैसे कोई आध्यात्मिक दिशा में बढ़ता है तो कोई भौतिक समृद्धि और ऐश्वर्य की ओर। किसी में कला और सौंदर्य का वैभव दिखाई पड़ता है तो कोई तकनीकी कौशल के क्षेत्र में विशिष्टता हासिल करता है। ऐसा नहीं होता कि किसी एक समाज में ये सारे गुण विकसित हों। इस आंशिक विकास के नतीजे क्या होते हैं, इसे सामाजिक जीवन में ही नहीं, प्रकृति के क्षेत्र में भी देख सकते हैं। सृष्टि के आदिम काल में विशालकाय डायनोशोर या अन्य छिपकली जाति के पशु अपने ही बढ़ते हुए बोझ के दबाव से अथवा किसी दूसरी दिशा में एकांगी, पर अधिकतम कौशल हासिल कर रहें अन्य पशुओं का मुकाबला न कर सकने के कारण मर गए या पिछड़ गए। उसी तरह एक दिशा में बढ़ता हुआ कोई समाज अधिकतम कौशल हासिल करने की कोशिश में अपने ही बोझ या बाहरी दबाव के कारण नष्ट हो जाता है। पर जब तक उस समाज का विकास अवरुद्ध नहीं होता तब तक उसकी सेहत हर दृष्टि से बनी रहती है। अंदरुनी वर्ग-संघर्ष चलता रहता, पर उससे समाज की आंतरिक शक्ति घटती नहीं। यही नहीं, काफी हद तक समाज में समता बनी रहती है। समता की इच्छा ही वर्ग-संघर्ष की मूल प्रेरणा होती है। ऐसा समाज न केवल बाहरी आक्रमणों का मुकाबला करने में समर्थ होता है बल्कि कभी-कभी दूसरे समाज से पोषण भी प्राप्त करता है। पर ज्योंही यह समाज अपने परम उत्कर्ष पर पहुंचता है उसकी गति और अवरुद्ध हो जाती है। तब वर्ग-संघर्ष काफी पीड़ादायक और असह्य लगने लगता है। ऐसे हालत में कोशिश यह होती है कि वर्ग-संघर्ष को समाप्त कर समाज में एक न्यायोचित वर्ण-व्यवस्था कायम की जाए। आपस में जूझते हुए विभिन्न वर्गों के अधिकार और कर्त्तव्य का न्यायसंगत विभाजन करके उन्हें स्थिरता प्रदान की जाए। अगर यह कोशिश कामयाब हो गई तो जाहिर है कुछ समय के लिए समाज का विखराब टल जाता है। पर आखिरी नतीजे के बारे में संदेह नहीं किया जा सकता। लोहिया का कहना है कि वर्ण-व्यवस्था के कायम होने से किसी भी समाज का ऊर्जाहीन होकर, जड़ता का शिकार होना तय है। इस विंदु पर पहुंच कर वह समाज बाहरी चोटों को झेल नहीं पाता, विखर जाता है।

लोहिया का दूसरा निष्कर्ष यह है कि इतिहास-देवी का कृपाभाजन दुनिया का कोई एक हिस्सा कभी नहीं रहा। शक्ति और समृद्धि के क्षेत्र हमेशा ही बदलते रहे हैं। धन और शक्ति के हिसाब से एक हिस्सा अगर उठता हुआ दिखाई देता है तो दूसरा गिरता हुआ। मतलब यह है कि इतिहास की गति सीधी रेखा में नहीं होती। यदि सीधी रेखा में होती तो हिंदुस्तान, चीन और यूनान आदि देश आज सबसे आगे होते। लोहिया का तीसरा निष्कर्ष यह है कि इन दोनों निराशाजनक प्रवृतियों के साथ-साथ एक तीसरी प्रवृति भी दिखाई पड़ती है. और यह कि इतिहास के इस सारे उत्थान-पतन और हलचल के बीच भी मनुष्य की एक कोशिश यह भी रही कि सारे संसार के लोग, सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर ही नहीं, शारीरिक स्तर पर भी एक दूसरे के निकट आएं।

इस निष्कर्षों के आधार पर लोहिया के समाज-सिद्धांत का जो व्यापक रूप उभरता है, इसे मोटे तौर पर हम यों रख सकते हैं – (1) लोहिया यह मानते हैं कि वर्ग और वर्ण की

समस्या, किसी एक देश की नहीं, सारी दुनिया की समस्या है। (2) मार्क्स का कहना था कि दुनिया का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। लोहिया का कहना है कि दुनिया का इतिहास वर्ग-संघर्ष का नहीं, वर्ग और वर्ण-संघर्ष दोनों का इतिहास है। (3) लोहिया की मान्यता है कि वर्ग-संघर्ष की समाप्ति से जरूरी नहीं कि देश में समता आ जाए। सच तो यह है कि कभी-कभी वर्ग-संघर्ष की समाप्ति से विषमता और ज्यादा तथा स्थाई हो जाती है। नाजियों ने जर्मनी में जो किया और रूस के साम्यवादी जो आज कर रहे हैं उससे यही लगता है कि वर्गों की समाप्ति नए किस्म की वर्ग-व्यवस्था को जन्म दे रही है। (4) इसलिए जरूरी है कि वर्ग और वर्ण दोनों पर एक साथ हमला बोला जाए – दोनों जब टूटेगें तभी समता की प्रतिष्ठा होगी। (5) लोहिया की यह भी मान्यता है कि वर्ग और वर्ण की समाप्ति के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रों के बीच भी समता लाई जाए। यह समता महज राजनीतिक समता नहीं होगी। इन देशों के लोगों के बीच आर्थिक, सांस्कृतिक यहां तक कि शारीरिक समता भी लाने का प्रयत्न होना चाहिए।

लोहिया के सिद्धांत के कुछ पहलूओं को हमने रखा है। विस्तृत चर्चा की यहां गुंजाइश नहीं है। पर इतना स्पष्ट है कि लोहिया कि बहुआयामी दृष्टि ने नवजागरण की सामाजिक चेतना को न केवल अंतरराष्ट्रीय आयाम प्रदान किया, बल्कि उसे समाज परिवर्तन के एक व्यापक सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित भी किया। यही नहीं अपनी इन मान्यताओं को सामने रख कर लोहिया ने भारतीय इतिहास का विवेचन भी किया, जिससे कई ऐसे तथ्य सामने आए, जिनसे उनके राजनीतिक सोच का परिदृश्य ही बदल गया। यहां हम एक उल्लेख करेंगे।

आजादी मिलने के बाद लोहिया के मानस में बार-बार यह प्रश्न उठ रहा था कि इतनी बड़ी सफलता के बाद क्या कारण है कि भारतीय समाज में कोई अलोड़न नहीं हुआ? आजादी मिली, पर उसका लाभ कुछ लोगों तक ही सीमित क्यों रह गया? क्या कांग्रेसी नेतृत्व की असफलता उसके लिए जिम्मेदार कही जाएगी? पर समाजवादी दल और कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व क्या कम जिम्मेदार था? इन दलों के भीतर क्या उच्च वर्ग के ही लोगों का वर्चस्व नहीं रहा? अगर इन राजनीतिक दलों के भीतर उच्च वर्ग और वर्ण के लोगों का वर्चस्व ही बना रहता तो यह कैसे मान लिया जाए कि यह दल अपने बाहर समाज के भीतर दबे हुए लोगों को ऊपर उठाएंगे। इस प्रश्न से ही जुड़ा एक दूसरा प्रश्न भी लोहिया के दिमाग को मथ रहा था। वह या कि हिंदुस्तान में कौन सी वह कमी है जिसके कारण वह बार-बार गुलाम होता रहा है। दुनिया का कोई ऐसा देश नहीं है जिसने सात सौ वर्षों से भी ज्यादा दिनों तक गुलामी मांगी हो। लोहिया पूछते हैं। भारतीय समाज में वे कौन से ऐसे तत्व हैं जिससे सबब से दुनिया में बार-बार गुलामी का तमगा, गुलामी का झब्बा, अगर किसी को मिला तो हिंदुस्तान को मिला। इसका कारण क्या शौर्य और पराक्रम का अभाव है? कष्ट सहने की क्षमता और त्याग-भावना की कमी है? यदि इनकी कमी नहीं रही तो फिर क्यों यह देश विदेशी आक्रमणकारियों के सामने टिक नहीं पाया? अक्सर ही लोग कह बैठते हैं कि हिंदुस्तान की गुलामी के मूल में राजाओं की फूट ही मुख्य कारण थी। आज भी राजीव गांधी से लेकर ज्योति बसु तक एक ही राग अलापते हैं – सावधान रहो देश तो तोड़ने वाले लोग चारों तरफ सक्रिय हैं। पर इतिहास की सूक्ष्म अध्ययन के बाद लोहिया इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि कोई भी देश गिने-चुने राजनेताओं, नेताओं और देशद्रोहियों के कारण गुलाम नहीं होता। गुलाम वह तब होता जब उस देश की वहुसंख्यक जनता राजकार्यों से उदासीन हो जाती है। और कहीं भी जनता उदासीन होती नहीं, बना दी जाती है। हिंदुस्तान भी तभी गुलाम हुआ, जब जातिप्रथा के कारण यहां की नब्बे प्रतिशत जनता को राजकार्यों से उदासीन बना दिया गया। अन्यथा सच्चाई यह है कि जब-जब इस देश में वर्ण व्यवस्था को शिथिल करने वाले आंदोलन हुए तब-तब न केवल यह देश बाहरी आक्रमणों को रोकने में सफल हुआ, इसका राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृति विकास भी हुआ।

लोहिया इस परिणाम पर भी पहुंचे कि हिंदुस्तान के लोगों की संकल्पहीनता, अकर्मण्यता. सुस्ती और स्वार्थपरक अवसरवादी चरित्र के लिए यदि कोई एक कारण जिम्मेदार है तो वह है हजारे वर्षों से चली आने वाली वर्ण व्यवस्था। सारा

शरीर सूख जाए और शरीर का केवल ऊपरी भाग ही स्वस्थ रहे तो ऐसा शरीर कभी भी बाहर की चुनौती के सामने टिक नहीं सकता। कहना नहीं होगा कि पानीपत, पलासी और बक्सर जैसी लड़ाइयां तो इस देश में सौकड़ों लड़ी गईं, पर हल्दीघाटी जैसा दूसरा युद्ध नहीं लड़ा गया। इस तरह भारतीय इतिहास के अध्ययन से लोहिया की स्पष्ट धारणा बनी कि जाति की चक्की में पिस कर न केवल इस देश का बहुसंख्यक वर्ग पंगु बन गया है, शासक वर्ग भी आलसी, अकर्मण्य और संकल्पहीन हो गया है। इस स्थिति को तभी पलटा जा सकता है, जब जाति प्रथा विनाश हो। जब तक जातिप्रथा रहेगी राष्ट्र दो टुकड़ों में बंटा रहेगा। समाजवाद और लोकतंत्र भी नहीं आ सकता।

लोहिया के लिए समाजवाद का एक ही मतलब रहा है - - हर किस्म की गैर बराबरी को दूर कर राष्ट्रीय- अंतरराष्ट्रीय स्तर पर समता के मूल्य को प्रतिष्ठित करना। उसी तरह लोकतंत्र का भी उनकी नजर में एक ही अर्थ है – सत्ता का विकेंद्रीकरण। लोहिया ने महसूस किया था कि हिंदुस्तान का समाजवादी आंदोलन तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक यह वर्ण व्यवस्था बनी रहेगी। बाबा साहव अंबेडकर से डा. लोहिया जाति प्रथा तोड़ने के मामले में काफी भिन्न मत रखते हैं। पर दोनों इस बात पर सहमत हैं कि बिना जाति प्रथा खत्म किए देश में सर्वहारा की क्रांति सफल नहीं हो सकती। जो लोग सर्वहारा क्रांति में विश्वास रखते हैं उनके लिए डा. भीमराव अंबेडकर की यह बात ध्यान में रखना चाहिए। उनका कहना था : क्या यह कहा जा सकता है कि हिंदुस्तान का सर्वहारा, जो बेहद गरीब होता है, धनी और गरीब के फर्क के सिवाय समाज में और किसी फर्क को नहीं स्वीकार करता? क्या वह, जात-पात और ऊच-नीच के भेदभाव से मुक्त है? अगर वास्तविकता यह है कि वह यह सब कुछ मानता है, तब पूछा जा सकता है कि इस तबके से धनिकों के विरुद्ध किस तरह के संयुक्त मोर्चे की उम्मीद की जाए? सर्वहारा की क्रांति कैसे संभव है, यदि सर्वहारा वर्ग में एकता न हो? तर्क के लिए ही सही मान लीजिए कि संयोगवश समाजवादी क्रांति हो गई और समाजवादियों को सत्ता भी मिल गई, तब क्या उन्हें भारत की वर्तमान सामाजिक प्रथा से लोहा लेना नहीं होगा। मैं किसी प्रकार भी यह सोच नहीं पाता कि भारतीय समाज में जब तक छूत-अछूत और जातिगत हीनता तथा श्रेष्ठता का भाव मौजूद है, कैसे कोई समाजवादी राज्य यहां चल सकता है? लोहिया की भी यही धारणा बनी थी कि समाजवादी आंदोलन तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक जाति प्रथा नहीं टूटती। अपने राजनीतिक जीवन के प्रारंभ में लोहिया भी अपने अन्य समाजवादी साथियों के साथ यही मानते थे कि आर्थिक क्रांति यदि हो गई तो अपने आप जात-पात, छूआ-छूत के भेद मिट जाएंगे। पर भारतीय समाज के बारे में उनका अनुभव और ज्ञान जब समृद्ध हुआ वे इस नतीजे पर पहुंचने को बाध्य हुए कि आर्थिक और राजनीतिक क्रांति के साथ-साथ यदि सामाजिक क्रांति नहीं होती तो किसी प्रकार समाज में गैर बराबरी मिटाई नहीं जा सकती। सच तो यह है कि आर्थिक और राजनीतिक हो ही नहीं सकती यदि सामाजिक क्रांति नहीं होती।

हिंदुस्तान के मार्क्सवादियों के गले यह बात जल्दी उतरती नहीं। वे जाति प्रथा के सवाल को अधिरचना (सुपर स्ट्रक्चर) का सवाल मानते हैं। उनका आज भी विश्वास है कि समाज के आर्थिक आधार को यदि बदल दिया जाए तो अपने आप ही जाति प्रथा का विनाश हो जाएगा। कुछ इसी तरह जैसे कुछ लोग यह मानते हैं कि जैसे आधुनिक शिक्षा का समाज में प्रचार होगा – औद्योगीकरण की प्रक्रिया तेज होगी, वैसे-वैसे जातिगत बंधन ढीले पड़ते जाएंगे। पर यह बात कितनी गलत है, इस हम अनुभव से जांच सकते हैं। हिंदुस्तान के नगरों-महानगरों के पढ़े-लिखे लोग क्या जातिगत संस्कार से मुक्त हैं। क्या यह सच नहीं कि गांव के लोगों की तरह उनमें भी जातिगत श्रेष्ठता का दुराग्रह उतना ही प्रबल है जितना गांव के लोग में रहता है? यदि हिंदुस्तान की मजदूर श्रेणी उस जहर से मुक्त नहीं, पढ़ा-लिखा नागरिक मुक्त नहीं, तब कैसे कहा जाए कि मार्क्स और मैक्स बबट के विचार भारतीय समाज के संदर्भ में सही उतरते हैं।

डा. लोहिया का कहना है कि भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था का ढांचा अन्य देशों से काफी भिन्न है। धर्म, दर्शन, पुराण और मिथक के द्वारा उसे इतना पुष्ट किया गया है कि वह एक हद तक अमेय बन गया है। हजारों वर्षों से संस्कार

ने उसे इतना पुख्ता कर डाला है कि जो इसे सिद्धांतः गलत मानते हैं वे भी इसे व्यवहार में तोड़ नहीं पाते। इसलिए इसकी ठीक-ठीक समझ नहीं होगी तो इसे किसी प्रकार भी तोड़ा नहीं जा सकता। गौतम बुद्ध से लेकर गांधी, अंबेडकर तक इस पर हमले होते रहे हैं पर मर्ज है कि बढ़ता जा रहा है। लोहिया का कहना है कि जब तक इस पर चौतरफा हमला नहीं होता, इसे खत्म नहीं किया जा सकता। चौतरफा हमले का मतलब इतना है कि समाज में पिछड़े हुए लोगों को न केवल धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक स्तर पर बराबरी का दर्जा मिले, राजकीय स्तर पर भी उन्हें आगे बढ़ाया जाए। यह तभी संभव है जब उन्हें विशेष अवसर मिले।

डा. लोहिया के इस विशेष अवसर के सिद्धांत ने भारतीय राजनीति में काफी गरमी पैदा की है। आज भी यह बहस और संघर्ष का केंद्रीय मुद्दा बना हुआ है। इसलिए यह स्पष्ट जानकारी जरूरी है कि विशेष अवसर से लोहिया का मतलब क्या है। विशेष अवसर उनको मिलना चाहिए और क्यों? लोहिया का एक अत्यंत सीधा सा तर्क यह है कि जिस तरह किसी पिछड़े हुए इलाके को विकसित करने के लिए हम उसे विशेष सुविधा प्रदान करने के लिए हम उसे विशेष सुविधा प्रदान करते हैं, उसी तरह हमें सामाजिक जीवन में भी करना होगा। अगर हम यह मानते हैं कि भारतीय समाज में एक बड़ा तबका ऐसा है जिसे हजारों वर्षों से इस तरह कुचल कर रखा गया है कि वह सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से ही नहीं पिछड़ गया है, उसकी सेवा में भी कमी आ गई है, तब हमें यह मानने में कोई एतराज नहीं होना चाहिए कि समान अवसर देकर उसे हम कभी भी उच्च वर्णों के बराबर नहीं ला सकते। 'विशेष अवसर' के कई मायने हो सकते हैं। पर लोहिया ने इसे एक ठोस रूप देते हुए कहा कि इन तबकों को जो हमारी आबादी के 90 प्रतिशत हैं सरकारी काम काज में 60 प्रतिशत स्थान मिलना चाहिए। यही नहीं, उन्होंने अपनी पार्टी की समितियों के लिए तथा विधानसभा और संसद के उम्मीदवारों के चयन के बारे में भी यही नियम बनाया कि 60 प्रदतिशत स्थान इस तबके को मिलना चाहिए। जाहिर है कि लोहिया का बल इस बात पर नहीं था कि इनकी संख्या 60 प्रतिशत हो या 70 प्रतिशत – वे सिर्फ यही चाहते थे कि समाज के बहुसंख्यक दबे-कुचले लोग जो खुली प्रतियोगिता में पिछड़ जाएंगे उन्हें सहारा देकर हम आगे ले आएं। इससे न केवल वर्णों की जकड़ ढीली होगी, भारतीय समाज की हजारों बरसों की जड़ता भी टूटेगी।

भारतीय समाज में सर्वहारा कौन है? क्या वे लोग जो संपत्तिहीन हैं? इसमें संदेह नही कि शोषण के औजारों में सबसे व्यापक औजार संपत्ति का है। पर भारतीय समाज का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करते हुए लोहिया ने पाया कि शोषण के यहां तीन औजार हैं – संपत्ति, जाति और भाषा। और यह स्थिति आज से नहीं, हजारों वरसों से है। हिंदुस्तान में जिनके पास संपत्ति है उनमें अधिकांश के पास जाति की दौलत भी रहती है, और अक्सर ही वे इन दोनों के बल पर वे भाषा की संपत्ति भी हासिल कर लेते हैं। आज भाषा की संपत्ति का मतलब है अंग्रेजी का ज्ञान। पहले यह संपत्ति संस्कृत और पारसी थी, तो आज वह अंग्रेजी है। सामंति भाषा औध्रेर जन-भाषा का संघर्ष सदियों से इस देश में चला आ रहा है – और कहना नहीं होगा कि वह आज बी जारी है। पर इन तीनों संपत्तियों से और वंचित है? कोई भी कह सकता है कि हरिजन, आदिवासी, छोटी जाति के मुसलमान, कुछ शूद्र जातियां और देश की अधिसंख्य महिलाएं। महिलाएं चाहे किसी वर्ण की हों, पर क्या यह सच नहीं कि पुरुषों की तुलना में उनकी हैसियत शुद्र जैसी नहीं है? इन तीनों संपत्तियों से जो वंचित है, वस्तुतः वही इस देश का सर्वहारा है। लोहिया का कहना है कि इनमें से जिनके पास केवल एक होगी, वह पिछड़ा और दलित। लोहिया की राय थी कि अंग्रेजी ज्ञान से वंचित गरीब ब्राह्मण, क्षत्रिय और बनिया सभी समाज के दबे और कुचले हुए लोग हैं। इन्हें निम्न वर्ण के लोगों के साथ मिल कर मौजूदा व्यवस्था के खिलाफ संगठित मोर्चा बनाना चाहिए। यह मोर्चा ही वर्ण और वर्ग की विषमता पर आधारित समाज के ढांचे तोड़ सकेगा।

लोहिया ने कहा – आज की सबसे बड़ी गड़बड़ीमैं यह है कि कुर्ता-पाजामा वाला छोट जात ब्राह्मण, ठाकुर, कंठलगोट और चूड़ीदार पाजामा की ओर निहारता है, टकटकी लगाए देखता है। मैं अब इन गरीब ब्राह्मणों-ठाकुरों से कहूं कि दिल्ली, लखनऊ के सामंतों की ओर से मुंह फेर लो और देश

के करोड़ों तेली, तमोली, हरिजन, पासी, कुर्मी, अहीर की ओर निहारो। यही हाल मुसलमानों का है। उनमें भी एक तरफ खेश, सैय्यद हैं और दूसरी तरफ मोमिन, जुलाहा, अंसारी आदि। जिस दिन देश के गरीब ब्राह्मण, ठाकुर, का एका हिंदुस्तान के करोड़ों कुर्मी, भर, बिंद, कोयरी, अहीर, जुलाहा, पासी, चमार, भंगी, नाई आदि के साथ हो जाएगा, उस दिन इस एका के एक ऐसी बारूद बनेगी कि जिससे दिल्ली और लखनऊ की गंदगियों और कूड़ा जल कर राख हो जाएगा और नया हिंदुस्तान बनना शुरू होगा।

लोहिया के इस मंतव्य से प्रकट है कि वे जाति संघर्ष नहीं चाहते थे। उनकी जाति नीति का लक्ष्य जाति व्यवस्था का विनाश। पर जिन दलितों की वे एकता चाहते थे क्या उनकी जाति नीति से इस एकता में फांक पैदा नहीं होती? लोहिया की जाति नीति के अनुसार विशेष सुविधा पाने वाले वर्ग हैं – हरिजन, आदिवासी, पिछड़ी जाति के लोग तथा अल्पसंख्यक गरीब मुसलमान और ईसाई। इस समूह के अंतर्गत अंग्रेजी ज्ञान से वंचित गरीब सवर्ण नहीं आते। इन गरीब सवर्णों के साथ लोहिया पिछड़ों के साथ जुड़ने की बात तो करते हैं, पर इनको विशेष 'सुविधा' पाने वाले वर्गों में नहीं रखते। क्या इससे एक बड़ी व्यावहारिक अड़चन पैदा नहीं होती? एक ऐसी व्यवस्था में जहां अभाव ही अभाव दिखाई पड़ता हो, गरीब सवर्णों से इतनी सजगता की मांग करता है कि वे अंतिम लक्ष्य को ध्यान में रख कर निस्वार्थ भाव से पिछड़ों के मिलने वाली 'विशेष सुविधा' का समर्थन करेंगे, क्या आदर्शवादी अतिवादिता नहीं कही जायेगी?

आश्चर्य नहीं कि क्यों बिहार के गरीब सवर्ण ही लोहिया की जाति नीति का सबसे बड़ा विरोधी बन बैठा है, और सबसे बड़े हिमायती हैं, पिछड़ी जाति के कुर्मी, अहीर जाति के लोग के वे लोग जिनकी संपत्ति, राजनीतिक हैसियत और शैक्षणिक योग्यता को देख कर किसी प्रकार भी इन्हें दलितों की कोटि में रखा नहीं जा सकता। इन्होंने लोहिया की आत्मा को रौंदते हुए, जाति नीति को 'आरक्षण वाद' की नीति में परिणत कर डाला है। इनका अब एक ही मकसद है वर्ण विभाजन को कायम रखते हुए एक छोटे से समूह को ज्यादा से ज्यादा ऊपर उठाना। पिट रहा है तो गरीब हरिजन या वे जातियां जो शिक्षा संपत्ति और राजनीतिक हैसियत की दृष्टि से काफी कमजोर है। स्पष्ट है कि ऐसे थे लोहिया की जाति नीति के मूल उद्देश्य का पुनरुद्धार करना होगा और नया रण कौशल अपना कर उसे फिर से समाज परिवर्तन का कारगर औजार बनाना होगा।

पर यह नहीं भूलना चाहिए कि इस नीति का नीर्धारण लोहिया ने महज भारतीय समाज को बदलने के लिए ही यह किया था। इसके पीछे सारी मनुष्य जाति को आगे ले जाने का एक सपना भी उनके मन को आलोड़ित कर रहा था। पर वे चुनाव में जब उनकी पार्टी बुरी तरह पिट चुकी थी, उन्होंने अपने लोगों को संबोधित करते हुए कहा था : सोशलिस्ट पार्टी क्या है? ऐसी पार्टी हजार बनी और गई। हिंदुस्तान कोई मामूली चीज है? मनुष्य कोई मामूली चीज है? पार्टी में क्या रखा है? पार्टी को खाली एक औजार है। भारत संपूर्ण भारत और भारत ही खाली नहीं, मनुष्य समाज को दबे हुए लोगों को 'विशेष अवसर' का सिद्धांत बिना माने कोई त्राण नहीं है। कोई रास्ता नहीं है। मन विचलित होता है। हारने पर कौन दुखी नहीं होता। बहुत से लोग तो रास्ता छोड़ देते हैं। हमारी खुद की इच्छा हो सकती है कि जब हम देखें कि ये मामला खराब है, कौन इसमें झंझट करे, चलो हटो। लेकिन रास्ता यही है। इस पर दूसरे लोग आएंगे, इसको पकड़ेंगे और इस पर चलते-चलते सोशलिस्ट पार्टी का नाश होता है तो हो। फिर कभी पांच-दस बरस बाद कोई और पार्टी खड़ी होगी और इस रास्ते को चलाएगी।

जाहिर है कि जाति नीति केवल भारतीय समाज को सामने रख कर नहीं बनी थी। इसका अभिप्राय था सारी दुनिया के दबे-कुचले लोगों को उठाना। लोहिया के सोच की यह एक खासियत रही है कि उन्होंने भारतीय समाज के बदलाव के लिए जिस भी नीति या विचार को रखा उसका ताल्लुक किसी न किसी रूप में सारी मनुष्य जाति से रहा है। भारतीय समाज के शोषित तबके के लिए यदि लोहिया विशेष अवसर की मांग करते हैं तो यह भी आवाज उठाते हैं कि संयुक्त राष्ट्र सघ की ब्राह्मण व्यवस्था खत्म होनी चाहिए और गरीब मुल्कों की विशेष सुविधा मिलनी चाहिए। जब वे भारतीय समाज में स्त्रियों को पुरुषों की बराबरी का दर्जा देना चाहते हैं तो इस विचार के पीछे भी उनकी सप्त क्राति का एक सपना झिलमिलाता रहता है। उसी तरह भारत-पाक महासंघ की प्रस्तावना के पीछे भी उनका मकसद इतना ही नहीं है कि हिंदुस्तान-पाकिस्तान के बंटवारे को खत्म किया जाए और

हिंदुओं-मुसलमानों के संबंध सुधारे जाएं। उनका मकसद यह भी था कि कैसे साम्राज्यवादियों के षडयंत्र को नाकामयाब किया जाए। अंग्रेजी हटाओं आंदोलन के द्वारा भी वे केवल सामंतवादी शोषण का प्रतिकार ही नहीं करना चाहते थे, नव्य उपनिवेशवाद के हमले को रोकना भी चाहते थे। यह सब कहने का तात्पर्य हमारा इतना ही है कि कुछ सिरफिरे लोग, जो लोहिया पर संकीर्ण होने का आरोप लगाते हैं वे उनके व्यापक दृष्टिकोण को समझें।

यह भी समझना जरूरी है कि भारतीय समाज को बदलने के लिए लोहिया ने समाजवादी आंदोलन के परंपरागत रास्ते को छोड़ कर धर्म, पुराण और मिथक का सहारा क्यों लिया? कहना नहीं होगा कि लोहिया अपने अंतिम दिनों में यह मानने लगे थे कि जनसाधारण के संस्कारों को परिष्कृत नहीं किया जाता तब तक समाजवाद नहीं आ सकता। इसके लिए जरूरी है कि उन सारे स्रोतों की पड़ताल की जाए जो भारतीय जनमानस को प्रभावित करने में समर्थ हैं। शिव उन्हें इसलिए प्रिय हैं कि वे अर्द्ध नारीश्वर हैं, राधा उन्हें इसलिए जंचती है कि तीन लोक का स्वामी कृष्ण उसका दास हैं। कृष्ण भी उन्हें इसलिए प्रभावित करते हैं कि उसकी वाकचातुरी और तेजस्विता के सामने भीष्म भी हतप्रभ हो जाते हैं। इन सारे आख्यानों की व्याख्या द्वारा लोहिया ने नर-नारी के बराबरी के रिश्ते को ही नहीं रेखांकित किया, यह भी बताने की कोशिशें की कि हमारी परंपरा भी निष्प्राण नहीं है। आज भी उससे हम प्रेरणा ले सकते है। इस तरह राम-कृष्ण की मौलिक व्याख्याओं द्वारा उन्होंने भारतीय समाज की रूढ़ियों पर जहां प्रहार किया वहीं आज के युग के मूल्यों का औचित्य भी सिद्ध किया।

इसी तरह भारतीय इतिहास की अपनी नितांत मौलिक व्याख्याओं द्वारा उन्होंने हिंदू-मुसलमान संबंध को भी नए नजरिए से देखा। वस्तुतः भारतीय समाज से लोहिया का तात्पर्य हिंदू समाज कभी नहीं रहा – उन्होंने यह कोशिश की कि देश के सारे अल्पसंख्यकों को भारतीय समाज में सम्मान और प्रतिष्ठा मिले। कहा है : 'कोई भी देश तब तक सुखी नहीं रह सकता, जब तक उसके अल्पसंख्यक सुखी नहीं हो जाते। मेरा मतलब सिर्फ मुसलमानों से नहीं है। वैसे सच पूछे तो मैं मुसलमानों को अहमियत नहीं देता। मुसलमानों के अंदर ज्यादातर पिछड़े लोग हैं, जैसे जुलाहे, धुनिए। मैं उनको अहमियत देता हूं, पढ़ाई-लिखाई में, गरीबी में, हम मामले में। उसी तरह से और लोग भी हैं, हरिजन, आदिवासी वगैरह। जब तक ये सुखी नहीं होते तब तक हिंदुस्तान सुखी नहीं हो सकता।

हमने एक आलेख में लोहिया की जाति नीति पर ही विशेष बल दिया है। इसलिए कि यह नीति उनकी राजनीति के न केवल केंद्र में रही है बल्कि उनके सारे सोच को प्रभावित भी करती है। पर इससे बड़ी त्रासदी क्या होगी कि आज भारतीय राजनीति में सबसे ज्यादा लांछित और प्रभावहीन नीति लोहिया की जाति नीति ही हो गई है? हमारी समझ में इसका बड़ा कारण यह है कि इसको पुष्ट करने वाले आंदोलनों को समाजवादियों ने उपेक्षित किया। पिछड़े वर्ग में स्त्रियों को रखा, पर स्त्रियों का न कोई संगठन बनाया, न उनको लेकर कोई आंदोलन किया। उनमें समाजवादी चेतना लाने की कोशिश ही नहीं हुई। उसी तरह हरिजनों और आदिवासियों के मानस को झकझोरने वाला न कोई सांस्कृतिक आंदोलन किया, न अन्य पिछड़ों के साथ उन्हें जोड़ने का सूत्र तैयार किया। नतीजा यह है कि हरिजन, आदिवासी और महिलाएं अलग-अलग प्रभावशाली तबकों के रूप में भारतीय राजनीति के मंच पर उभरी जरूर पर उनका दृष्टिकोण निहायत यथास्थितिवादी बना रहा। लोहिया ने इन्हें परिवर्तनवादी राजनीति के पायों के रूप में देखा था। पर ये पाए आज पुरानी इमारत को बनाए रखने वाले पाए बन गए हैं। समाजवादियों को सोचना होगा कि यह सब क्यों और कैसे घटित हुआ? क्यों नहीं – जहां अंग्रेजी हटाने की थोड़ी सी भी कोशिश होती है वहां और भी ज्यादा ताकत के साथ अंग्रेजी आ जाती है? क्या इसलिए कि लोहिया की राजनीति पिट गई है? या इसलिए कि उनके शिष्य निहायत नाकाबिल और भ्रष्ट निकले? पर जैसा कि लोहिया ने कहा था उनके आदर्शों को मान कर चलने वाली पार्टी भले ही खत्म हो जाए, उनकी नीतियां , खत्म नहीं होगीं। आज नहीं तो कल फिर कोई पार्टी जरूरी खड़ी होगी और ऐसे लोग आएंगे जो उनकी नीति को आगे ले जाएंगे। दूसरा कोई पथ नहीं है। हम भी मानते हैं, दूसरा कोई पथ ही नहीं है। पर पथ अगर सही है तो पथिक जरूर आएंगे।

किसान आंदोलन थमेगा नहीं

नीरज सिंह

अब यह बात साफ है। मोदी सरकार किसानों की हितैषी नहीं है। किसानों के आंदोलन से चपत खा लेने के बाद भी उसकी आंख नहीं खुली है और न ही किसानों के प्रति उसके रवैये में तब्दीली आई है। वह पूंजीपतियों और कारपोरेट के हित के लिए किसानों का अहित करने पर आमादा है। किसानों की मांगों को पूरा करने की बजाय टालमोटोल कर रही है। उसके खिलाफ किसान आंदोलन चल रहा है और जब तक किसानों की सारी मांगें पूरी नहीं हो जाती वह थमेका नहीं।

मोदी सरकार द्वारा तीन कृषि कानून लाए गए थे। संयुक्त किसान मोर्चा के नेतृत्व में किसानों ने इन तीन कानूनों को काला कानून कहा और उसके खिलाफ जबरदस्त आंदोलन शुरू किया। ईमानदारी से उस आंदोलन के कारणों को समझने के बदले केंद्र सरकार ने उसे कुचलने का हर हथकंडा अपनाया। लेकिन आंदोलन कमजोर नहीं, लगातार तेज हुआ। मोदी सरकार को तीनों कानूनों को वापस लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। किसानों की और भी तमाम मांगें हैं। उन मांगों के औचित्य को जानने और समाधान के लिए बनी कमेटी में जिन्हें शामिल किया गया है, उससे संदेह पैदा होता है कि उसका कोई अच्छा नतीजा भी निकलेगा। केंद्र सरकार ने किसानों के खिलाफ साजिश की मंशा के तहत ही कमेटी में संयुक्त किसान मोर्चा के प्रतिनिधियों को पर्याप्त जगह नहीं दी गई।

किसानों के उपज पर पर्याप्त न्यूनतम समर्थन मूल्य देने और उसे कानूनी हक बनाने, प्रस्तावित विद्युत अधिनियम संशोधन विधेयक2020-21 को वापस लेने, देश की राजधानी दिल्ली और उससे जुड़े क्षेत्रों में वायु गुणवत्ता प्रबंधन के लिए आयोग अधिनियम 2021 में किसानों की सजा देने के प्रावधान हटाने, दिल्ली समेत देश के विभिन्न जगहों में जून 2020 से शुरू हुए किसान आंदोलन के दौरान किसानों पर दर्ज हुए मुकदमों को वापस लेने, लखीमपुर खीरी किसान हत्याकांड के सूत्रधार और केंद्रीय गृह राज्य मंत्री अजय मिश्र 'टेनी' की केंद्रीय मंत्रिमंडल से बर्खासतगी और गिरफ्तारी, किसान आंदोलन के दौरान शहीद हुए करीब 700 किसान परिवार को मुआवजा और पुनर्वास का इंतजाम करने, शहीद हुए किसानों की स्मृति में शहीद स्मारण बनाने के लिए सिंधु बार्डर पर जमीन उपलब्ध कराने की प्रमुख मांगों को लेकर किसान आंदोलन चल रहा है।

इन मांगों की पूर्ति के लिए केंद्र सरकार द्वारा पूर्व कृषि सचिव संजय अग्रवाल की अध्यक्षता में 29 सदस्यीय कमेटी गठित हुई है। सरकार की बदनियत का इससे अंदाज लगाया जा सकता है कि कमेटी में संयुक्त किसान मोर्चा के तीन प्रतिनिधि ही शामिल किए गए हैं। संयुक्त किसान मोर्चा से इतर पांच किसान संगठनों के नेताओं को प्रमुखता से कमेटी में जगह दी गई है। यों कहें, यह कमेटी नौकरशाहों, सरकार समर्थक किसान प्रतिनिधियों व विशेषज्ञों का जमावड़ा है। संयुक्त किसान मोर्चा ने इस कमेटी को खारिज और उसमें अपने प्रतिनिधियों को शामिल नहीं करने का फैसला किया है।

कमेटी संयुक्त किसानों की छह मांगों पर गौर करने के अलावा न्यूनम समर्थन मूल्य प्रणाली को ज्यादा प्रभावी व पारदर्शी बनाने, कृषि लागत व मूल्य आयोग (सीएसीपी) को और अधिक स्वायत्तता देने की व्यवहारिकता, कृषि बाजार प्रणाली को और मजबूत बनाने, प्राकृतिक कृषि के विस्तार, कृषि की विविधताकरण, सूक्ष्म सिचाई प्रणाली का विस्तार, ज्ञान केंद्र के रूप में कृषि विज्ञान केंद्र तथा शोध व विकास संस्थानों को विकसित करने के बारे में अपनी रिपोर्ट तैयार व प्रस्तुत करेगी।

कमेटी के कार्यकलापों से किसान के हित की उम्मीद नहीं की जा सकती। कमेटी की अब तक एक ही बैठक 22 अगस्त 2022 को दिल्ली में हुई। उसमें 25 सदस्य शामिल हुए। नीति

आयोग के कृषि सदस्य डा. रमेश चंद्र बैठक में नहीं शामिल हुए। संयुक्त किसान मोर्चा अपनी रणनीति के मुताबिक बैठक से अलग रहा। बैठक में विभिन्न विषयों को लेकर चार उप समिति का गठन किया गया। कुल मिला कर कमेटी की यही उपलब्धि है।

केंद्र सरकार संयुक्त किसान मोर्चा की मांगों पर गौर नहीं कर रही है, दूसरे उसके विपरीत कदम उठा रही है। सरकार ने विद्युत अधिनियम संशोधन विधेयक, 2022 को लोकसभा में पेश कर दिया है जबकि उसे वापस लेने का उसका वायदा था। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र और इससे जुड़े क्षेत्रों में वायु प्रबंधन के लिए आयोग अधिनियम 2021 में धारा 15 के माध्यम से सरकार ने सजा के प्रावधान को बरकरार ही रखा है। आंदोलन के दौरान किसानों पर लादे गए मुकदमों को वापस नहीं किया गया, दिल्ली, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड में मुकदमों से किसान परेशान हैं। केंद्रीय मंत्री टोनी को मंत्रिमंडल से हटाने की बात कौन करें, उनको बचाया जा रहा है। शहीद हुए किसानों की याद में स्मारक बनाने के लिए दिल्ली बार्डर पर जमीन मुहैया नहीं कराई जा रही है।

सरकार के तानाशाही रवैये के खिलाफ संयुक्त किसान मोर्चा ने पिछले साल 22 नवंबर को दिल्ली समेत विभिन्न राज्यों की राजधानियों के समक्ष राजभवन मार्च किया गया। दो साल पहले इसी तारीख को किसान आंदोलन शुरू हुआ था। इस साल गणतंत्र दिवस के मौके पर 26 जनवरी को हरियाणा के जींद मं किसान पंचायत समेत देश भर में ट्रैक्टर मार्च का कार्यक्रम किया गया। संयुक्त किसान मोर्चा मार्च में संसद मार्च का कार्यक्रम करेगी। देश भर के किसान संसद के सामने इकट्ठा होंगे।

कहना न होगा कि इस बार के पेश बजट से भी केंद्र सरकार का किसान विरोधी रवैया झलक जाता है। कृषि क्षेत्र पर 70 फीसदी आबादी निर्भर है। लेकिन कृषि व किसान कल्याण मंत्रालय का बजट मात्र 125035.73 करोड़ रुपये हैं यानी कुल बजट का मात्र 2.78 फीसदी। इसमें कृषि शोध व अध्ययन विभाग का 9504 करोड़ रुपये हैं। यदि इसमें मत्स्य, पशुपालन, डेयरी, पंचायती राज विभाग के बजट को शामिल कर लिया जाए तो कुल मात्र 6.5 फीसदी होता है। रक्षा मंत्रालय का बजट इससे करीब दोगुना है। यह किसानों की उपेक्षा नहीं है तो क्या है?

सरकार शहरों के विस्तार के लिए जमीन मुहैया कराने की बात करती है। जाहिर है कि कृषि क्षेत्र की जमीनों की कटौती होगी। यह अपरोक्ष तौर पर किसानों की जमीनों का छिनना ही है। केंद्र सरकार कृत्रिम बुद्धिमता की उत्कृष्टता की बात करती है। कृषि के क्षेत्र में बहुविषयक अनुसंधान की बात करती है। यों कहें कि इसके बहाने कृषि क्षेत्र में उद्योपतियों की घुसपैठ कराई जाएगी। सरकार अग्रणी उद्योगपतियों या गोदी सेठों को किसानों से डेटा व धन उपलब्ध कराना चाहती है जिससे कि वे चरणबद्ध तरीके से किसानों की मिल्कियत पर कब्जा कर सकें। सरकार विभिन्न अनुसंधान, विभिन्न उपकरणों व संयत्रों के इस्तेमाल की बात कर जिस विकास का सपना दिखा रही है उससे किसान संपन्न होने की बजाय विपन्न होंगे।

अब हरित क्रांति पर भी गौर करना चाहिए। सजप शुरू से इसका विरोधी है। हरित क्रांति किसानों का शोषक है। हरित क्रांति का उद्देश्य किसानों का अहित है। श्रेष्ठ आनुवांशिकी बीजों का इस्तेमाल, औद्योगिक विकास पर आधारित समग्र कृषि का अधुनिकीकरण, गैर औद्योगिक राष्ट्रों में औद्योगिकी का प्रसार करने और प्रमुख कृषि क्षेत्रों में निगमों की स्थापना को प्रोत्साहित करने का उसके उद्देश्य रहे हैं। हरित क्रांति के तहत कृषि लागत इस स्तर तक बढ़ गया है कि खेती किसानों के लिए घाटे की वृत्ति बन गई है। बड़ी संख्या में किसानों की आत्महत्या और किसानों का पलायन अब छिपा नहीं रह गया है। किसानों की आत्महत्या के तथ्यों को सरकार छिपा भी रही है।

यहां यह जिक्र कर देना जरूरी है कि अमरीका और दूसरे विकसित देश अपने यहां किसानों की सब्सिडी कम नहीं करना चाहते लेकिन भारत जैसे तमाम विकासशील देशों पर अपने यहां सब्सिडी धीरे-धीरे कम करने का दबाव बना रहे हैं। इसी दिशा में कृषि समझौता (डब्ल्यूटीओ का एओए) किया गया है। केंद्र सरकार सब्सिडी कम करने की दिशा में कदम उठाने के लिए आगे आने लगी है। वह दिन दूर नहीं जब सब्सिडी खत्म ही कर दी जा सकती है। किसानों के सामने हरित क्रांति को नकारने के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं बचा है। न्यूनतम समर्थन मूल्य को एक बड़ा मुद्दा मान कर किसान आंदोलन दिनोंदिन तेज होगा और वह सरकार को झुका कर ही रहेगा।

R.N.I. पंजीयन संख्या 31211/77

संघर्षरत प्रखर पत्रकार नचिकेता नहीं रहे

नचिकेता देसाई का अहमदाबाद में अपने निवास पर 5 फरवरी को निधन हो गया। वे 72 वर्ष के थे और अरसे से अस्वस्थ थे। उनके हृदय का एक बार आपरेशन हो चुका था और प्रोस्टेट कैंसर से जूझ रहे थे।

वे महात्मा गांधी के सचिव महादेव देसाई के पौत्र और शांतिवादी व सर्वोदयी नारायण देसाई के पुत्र हैं। उनकी इच्छा थी कि वे महादेव देसाई के लिखी सामग्री और उनके कार्यों को लिखें और पुस्तक के रूप में प्रकाशित करें। वे अपनी इस इच्छा को पूरी करने में काफी समय से जुटे हुए थे। आखिर में उनकी यह इच्छा पूरी हुई। उनकी लिखी किताब 'महादेव देसाई : महात्मा गांधीज फ्रंटलाइन रिपोर्ट' को साबरमती आश्रम ने प्रकाशित की और इसी साल एक जनवरी को विमोचन हुआ।



सफेद धोती और कुर्ता में नचिकेता

नचिकेता ने अपनी पत्रकारिता फोटोग्राफी से साथ शुरू की। वे एक दर्जन से ज्यादा बड़े पत्र-पत्रिकाओं से जुड़े और उन्होंने महत्पपूर्ण कार्य किए। लेकिन समझौतापरस्त नहीं होने की वजह से वे कहीं ज्यादा समय तक नहीं रह पाए। वे अपने सिद्धांत व उसूल के पक्के थे। आमलोगों के हितों के प्रति प्रतिबद्धता और लोकतंत्री होने की वजह से उन्हें हर समय व्यवस्था से संघर्ष करते रहना पड़ा। मौजूदा समय में पत्रकारिता के गिरते स्तर को देखते हुए उनकी याद लाजिमी है।

वे युवा अवस्था से ही संघर्षशील थे। उनके करीवियों के मुताबिक 1971 में एक रिक्शेवाले पर पुलिस जुल्म देख कर वे उसके विरोध में आगे आ गए और हुए आंदोलन का नतीजा यह हुआ कि पुलिस के आला अधिकारी को रिक्शेवालों पर जुल्म की घटना न होने का भरोसा देना पड़ा।

आपातकाल के दौरान नचिकेता भूमिगत होकर केंद्र और राज्य की तत्कालीन सरकार के विरोध में सक्रिय थे। उनके साथ और तीन साथी थे –योगेंद्र, सुधेन्दु पटेल और अशोक कुमार मिश्र। इस चौकड़ी को खूब जाना जाता था। उन्होंने 'रणभेरी' बुलेटिन निकाल कर आपातकाल के खिलाफ माहौल तैयार किया। जब आपातकाल खत्म हो गया तो लोकतंत्र और आम लोगों के हित बाबत जो बदलाव होना चाहिए था, वह नहीं हुआ। लोकनायक जयप्रकाश नारायण के आंदोलन (बिहार आंदोलन) में जिस बदलाब की कल्पना की गई थी, वह धरी रह गई दिख रही थी। उस कल्पना के अनुकूल माहौल बनाने की बेचैनी नचिकेता में खत्म नहीं हुई थी। एक बार भाजपा और आरएसएस के खिलाफ हो रहे विरोध-प्रदर्शन के फोटो खींचते हुए भाजपा और आरएसएस के लोगों ने उन पर हमला किया। उन्हें मारापीटा गया और उनका कैमरा तोड़ दिया गया। लेकिन नचिकेता को ऐसे हमलों से अपने मकसद में आगे बढ़ने का ही बल मिला। पत्रकारिता करते हुए सच और तथ्य को सामने रखने के लिए वे प्रबंधन से टकराने में पीछे नहीं रहे भले ही संस्थान से अलग होना पड़ा। सच्चे और संघर्षरत पत्रकारों को उनसे प्रेरणा मिलती रही है और आगे भी उनका स्मरण करने पर प्रेरणा मिलती रहेगी।

सांवादिक

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक अतुल कुमार प्रसाद सिंह द्वारा 14, समसपुर जागीर, पांडवनगर, दिल्ली -110091 से प्रकाशित और दीप कलर स्कैन (प्रा.) लिमिटेड, एफ-5, गली नं. 4 ए, फ्रेंड्स कॉलोनी इंडस्ट्रीयल एरिया, दिल्ली-95 से मुद्रित। संपादक : **अफलातून**